

भगवत्-प्राप्ति

चन्द्रस्वामी उदासीन





भगवत्-प्राप्ति

चन्द्रस्वामी उदासीन

अनुवादक

चन्द्रबोध खत्री

प्रकाशक

सीकर्स ट्रस्ट

साधना केन्द्र आश्रम

ग्राम—डुमेट, डाकघर—अशोक आश्रम, विकास नगर

जनपद—देहरादून, उत्तरांचल

प्रकाशक

सीकर्स ट्रस्ट
साधना केन्द्र आश्रम
ग्राम—डुमेट, डाकघर—अशोक आश्रम,
विकासनगर, जनपद—देहरादून,
उत्तरांचल, भारत, पिन—248125
दूरभाष—01360-222204

चतुर्थ संस्करण

8000 प्रतियाँ

मुद्रक
मनसा प्रिंट एण्ड पब्लिशर्स लिमिटेड
480/1, ग्राम—भटौली कलां, बद्दी
जिला—सोलन, हिमाचल प्रदेश

विषय-सूची

दिव्य सन्देश

मुंगेर (बिहार, भारत)
दिनाक : 29.12.67

बिना दिव्य अनुभूति के जगत् को दिव्य ज्ञान नहीं दिया जा सकता। चन्द्रस्वामी जैसे कठिन तपस्वी दुनिया में कम हैं। उन्हें दिव्यानुभूति हुई है और उनसे जगत् का उपकार होने वाला है। कठिन साधना से उन्हें जिस ज्ञान की उपलब्धि हुई है, वह जन को सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के दर्शन कराने में समर्थ हो, यही मेरा संकल्प है।

ॐ तत् सत्।

स्वामी सत्यानन्द
बिहार योग विद्यालय, मुंगेर



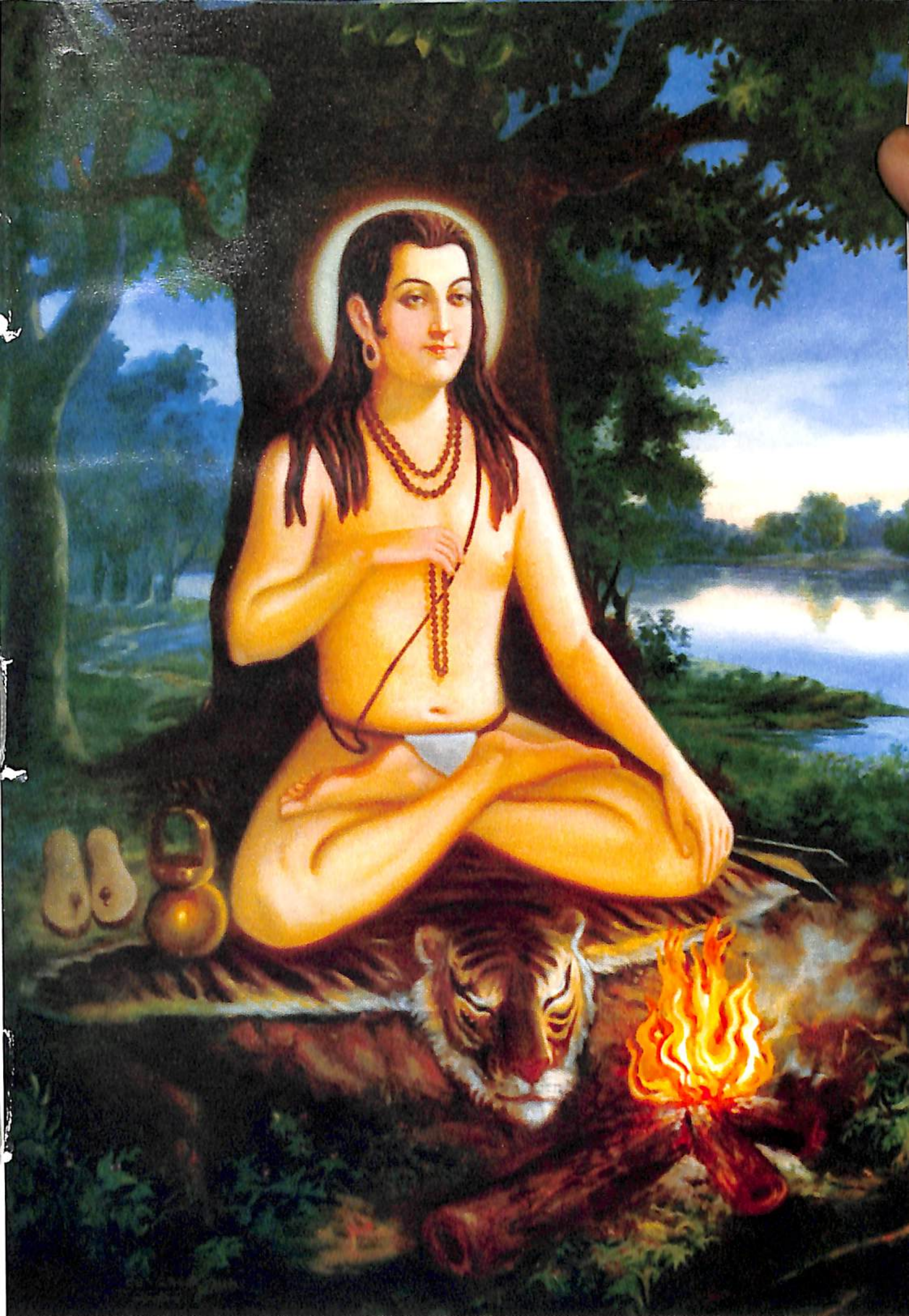


परमपूज्य उदासीनाचार्य भगवान् श्रीचन्द्रजी

एवं

बालयति बाबा भूमनशाहजी

की मधुर स्मृति में सादर-सप्रेम समर्पित।

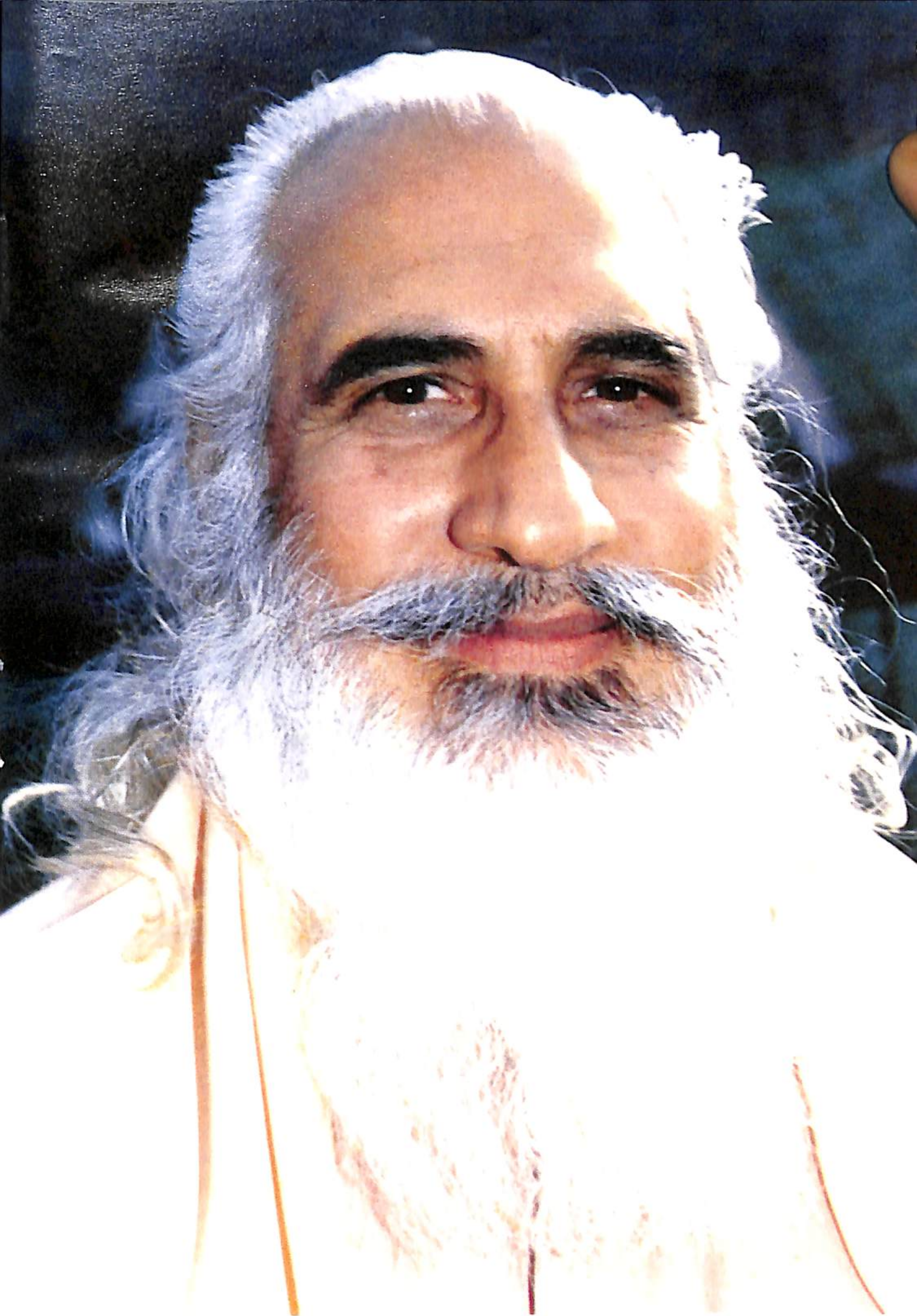


उदासीनाचार्य भगवान् श्रीचन्द्रजी





बालयति बाबा भूमनशाहजी उदासीन



परमसंत श्रीचन्द्रस्वामीजी उदासीन

श्री रामः शरणं मम

भूमिका

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्रीचन्द्रस्वामी लिखित The Practical Approach to Divinity पुस्तक का हिन्दी अनुवाद देखने को मिला। पूर्ण पुस्तक अभी मुद्रित नहीं मिली, किन्तु जितने अंश मुद्रित मिले उतने ही से पुस्तक की गरिमा सुस्पष्ट परिलक्षित हो जाती है।

पुस्तक के प्रणेता स्वामीजी ने वेद-शास्त्र, रामायण आदि प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर ईश्वर की सिद्धि की है, साथ ही अकाट्य तर्कों द्वारा मानव के मस्तिष्क में ईश्वर की सत्ता को पहुँचाने का प्रयत्न किया है। शास्त्रों का डिमडिम घोष है कि 'प्रमेय' की सिद्धि प्रमाणों से होती है—**"प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।"** ईश्वर की सिद्धि में अनेकों प्रमाण हैं किन्तु सभी प्रमाणों से सर्वश्रेष्ठ प्रमाण शब्द (वेद) है। प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों से जिसकी सिद्धि सम्भव नहीं है, उसी की सिद्धि के लिए वेद का अलौकिक अवतार है। वाक्यपदीय में लिखा है—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदना।"

भारतीय तत्त्वज्ञान का अक्षय भण्डार उपनिषद् हैं। यद्यपि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्' इस प्रमाण के अनुसार मंत्र एवं ब्राह्मण—दोनों का नाम वेद है, तथापि वेद के अन्तिम भाग होने के कारण उपनिषदों को वेद का शिरोभाग कहा गया है। यज्ञ आदि सकाम कर्मों द्वारा जो स्वर्ग

आदि फल प्राप्त होते हैं वे नश्वर हैं, अतः अक्षय-अनन्त परमानन्द प्राप्त करने के लिए इन सकाम कर्मों एवं इनसे प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि फलों से विरक्त होकर जिज्ञासु अनन्त सुख स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति के लिए श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के पास जाये, ऐसी आज्ञा श्रुति देती है—

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्, नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।"

(मुण्डकोप० 1.2.12)

अर्थात्, कर्म से सम्पादित लोकों की नश्वरता को देखकर साधक हो जाये, क्योंकि इन सकाम कर्मों से परमात्मा की प्राप्ति असम्भव है।

अतः ब्रह्म तत्त्व की प्राप्ति के लिए हाथ में पत्र-पुष्प-समिधा आदि लेकर श्रोत्रिय (शास्त्रों के ज्ञाता ब्रह्मनिष्ठ परमात्मा के उपासक) गुरु के पास जाये। इस प्रकार साधन-सम्पन्न विनयी शिष्य को गुरु ब्रह्म-विद्या का उपदेश करते हैं, जिसके द्वारा परमात्मा का ज्ञान होता है—**"येनाक्षरं पुरुषं वेद।"** वेद का सुस्पष्ट आदेश है कि संसार में एक-दूसरे से लोग प्रेम करते हैं, इसका एक मात्र कारण परमात्मा है। स्त्री पति से, पुत्र माता से, भ्राता भ्राता से, पति पत्नी आदि से जो प्रेम करते हैं, वे अपने सुख के लिए ही एक-दूसरे से प्रेम करते हैं। सभी को एक-दूसरे से अपने ही सुख की आशा रहती है। जिस दिन दूसरे से अपने सुख की आशा समाप्त हो जाये उस दिन एक मित्र दूसरे से प्रेम करना छोड़ दे। अतः अपना सुख ही सर्वश्रेष्ठ प्राप्तव्य है—(**"आत्मनः कामाय सर्वं प्रियं भवति"**)। जब आत्मसुख का ही सर्वत्र अन्वेषण है तब तो आत्मा का ही दर्शन करना चाहिए—**"आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।"** वेद कहता है आत्मा

(परमात्मा) का दर्शन करना चाहिए। (परमात्मा के दर्शन का साधन श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन है।)

"श्रोतव्यः श्रुति वाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः,
मत्वा च सततं ध्येयः एते दर्शनहेतवः।"

(श्रुति वाक्यों से श्रवण, युक्तियों से मनन तथा ध्यान करना चाहिए, यही दर्शन का हेतु है।)

यदि मानव जीवन प्राप्त कर प्रभु का साक्षात्कार नहीं हुआ तो मानव जीवन व्यर्थ है। श्रुति कहती है—**"इह चेत्-अवेदीत् अथ सत्यमस्ति, न चेत् इहावेदीत्-अथ महती विनष्टिः।"** यदि इस शरीर में (परब्रह्म को) जान लिया तब तो बहुत कुशल है। अन्यथा बहुत बड़ी हानि है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने अनेकों वेद-शास्त्र-प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि एवं उनकी प्राप्ति के साधनों का वर्णन किया है। इस पुस्तक के हिन्दी अनुवाद से हिन्दी प्रेमी जनता का महान् उपकार होगा, ऐसी पूर्ण आशा है।

लक्ष्मण किलाधीश,
अयोध्या, उत्तर प्रदेश
दिनांक : 22.01.68

आचार्य श्रीस्वामी सीताराम शरण



पूज्य श्रीचन्द्रस्वामीजी का संक्षिप्त जीवन कथामृत

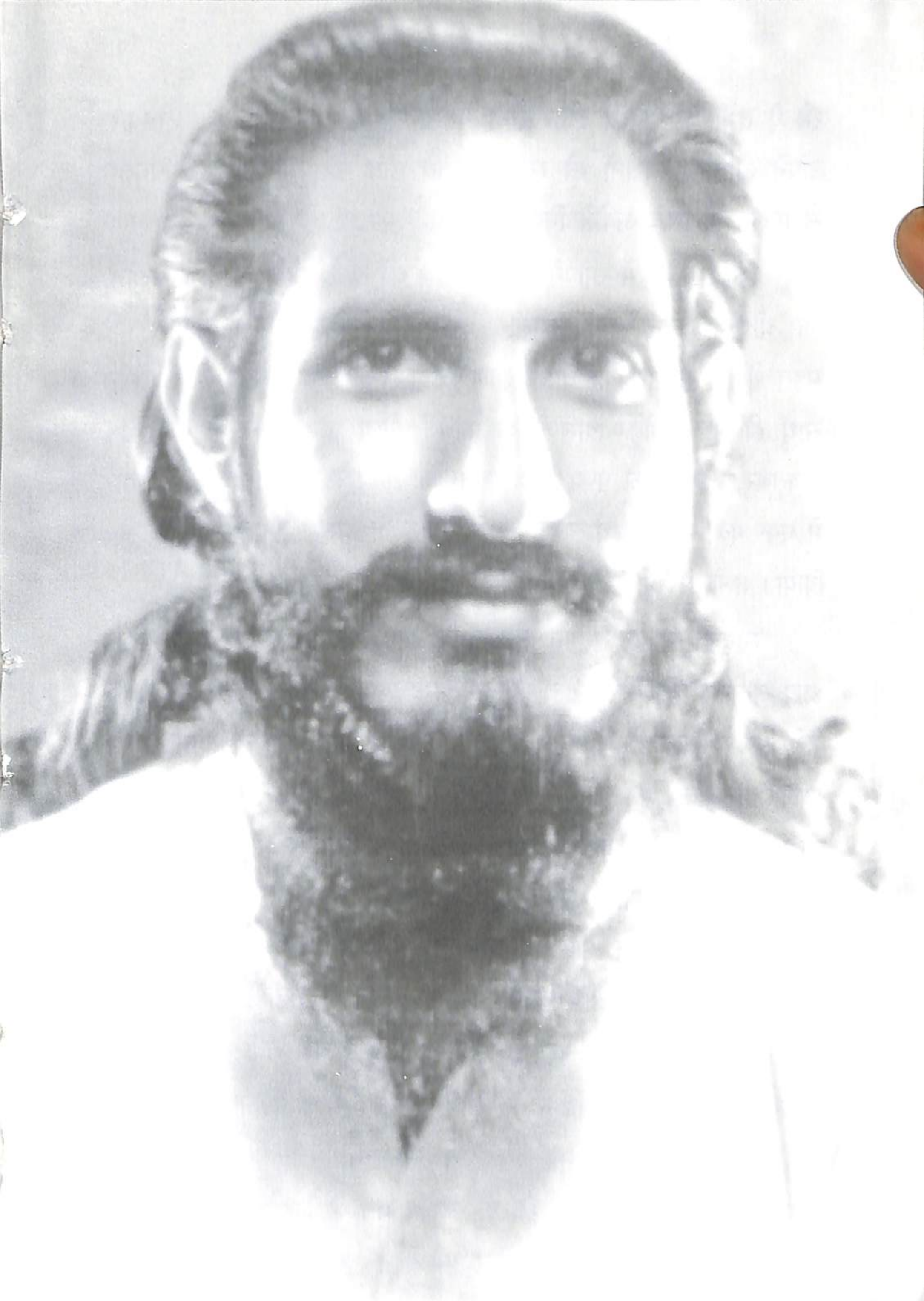
परमसंत श्रीचन्द्रस्वामीजी ने दिनांक 5 मार्च, 1930 को पाकिस्तान स्थित मिन्टगुमरी जिले के भूमनशाह गाँव में जन्म लेकर इस धरा को, मानवता को कृतार्थ किया। अठारहवीं शताब्दी के परमसिद्ध, बालयति, उदासीन संत बाबा भूमनशाहदेवजी (सन् 1687-1747) के पूर्ण संरक्षण, मार्गदर्शन और इच्छा के अनुसार ही इस महान् आत्मा ने वर्तमान मानवी चोला और भौतिक परिस्थितियाँ स्वीकार की। अढ़ाई सौ वर्ष पूर्व हुये बाबाजी के साथ इनका जन्म-जन्मान्तरों का बड़ा ही रहस्यमय, गहरा और अलौकिक सम्बन्ध है। पूज्य स्वामीजी के ही शब्दों में, "बाबाजी ही सब प्रकार से मेरे जीवन के आधार हैं। उनके बिना मेरा स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है—ऐसा बोध उन्हीं की कृपा से मुझे सदैव बना रहता है।" अपनी कठिन साधना, प्रयासों और सारी उपलब्धियों का पूर्ण श्रेय वे बाबाजी को ही देते हैं।

परमसंत बाबा भूमनशाहजी, जिनके नाम से उनकी लीला-स्थली का नाम भूमनशाह गांव पड़ गया था, अठारहवीं शताब्दी के उन महान् बालसिद्ध संतों में से एक थे जिन्होंने स्वयं एक आदर्श, नैतिक और भगवद्मय जीवन व्यतीत करते हुए अपना सारा समय दीन-दुखियों की सेवा करने तथा मोह-माया में सोये लोगों को जगा कर उन्हें प्रभु-स्मरण में लगाने हेतु समर्पित किया।

जन्म से ही अपने प्रेमास्पद बाबाजी के प्रति अलौकिक और गहनतम प्रेम की माधुर्यपूर्ण आभा में इनका जीवन पूर्ण संतुलित और सुगठित होकर अपने परमप्रिय लक्ष्य, 'परमात्मा का पूर्ण और समग्र अनुभव', की तैयारी करने लगा। वस्तुतः बाल्यकाल से ही वे सहज रूप से घटने वाले अत्युच्च आध्यात्मिक अनुभवों के बीच ही पले और बड़े हुये। बचपन से ही वे आध्यात्मिक दृष्टि से परिपक्व आत्मा थे तथा उन्हें समाधि-चेतना का आभास था। भगवद् प्राप्ति का लक्ष्य उनके लिए बड़ा ही सहज और स्वाभाविक था। उनके उत्कट प्रभु-प्रेम के लिए कोई दुःखद घटना या सांसारिक अभाव कारण नहीं बना। उनका यह लक्ष्य तो इस दिशा में उनके द्वारा जन्म-जन्मान्तरों में की गयी साधना का सहज परिणाम था। निश्चय ही वे कई जन्मों के योगी हैं तथा पूरे लक्ष्य-बोध के साथ ही उन्होंने अपनी आध्यात्मिक यात्रा की पूर्णाहूति हेतु यह चोला धारण किया है। उनके सम्पर्क में आने वाले हम सभी का यह सहज-स्फूर्त विश्वास है कि वे अध्यात्म के शिखर पर पहुँचे हुए पूर्ण योगी और आत्मतृप्त परमसंत हैं।

सन् 1947 में बाबाजी की प्रत्यक्ष प्रेरणा से भूमनशाह डेरे के तत्कालीन पूजनीय महंत गिरधारीदासजी ने स्वामीजी को मात्र सत्रह वर्ष की आयु में बड़े अलौकिक तरीके से मंत्र प्रदान करके उदासीन पंथ में दीक्षित कर लिया था। यही था उनके जीवन का असली रूपान्तरण बिन्दु। इस दीक्षा ने मानो उन्हें उनके जीवन के सच्चे लक्ष्य के दर्शन करा दिये; अब तक प्रसुप्त एवं अस्पष्ट सी आध्यात्मिक अभीप्सा मानो जाग उठी; प्रभु-मिलन की तड़प-विरह मानो बाढ़ की तरह उमड़ पड़ी।

सन् 1947 में देश के दुःखद विभाजन के बाद आप भारत आ गये। जब देहरादून में आप सन् 1952 में स्नातकोत्तर पूर्वार्ध (गणित) कर

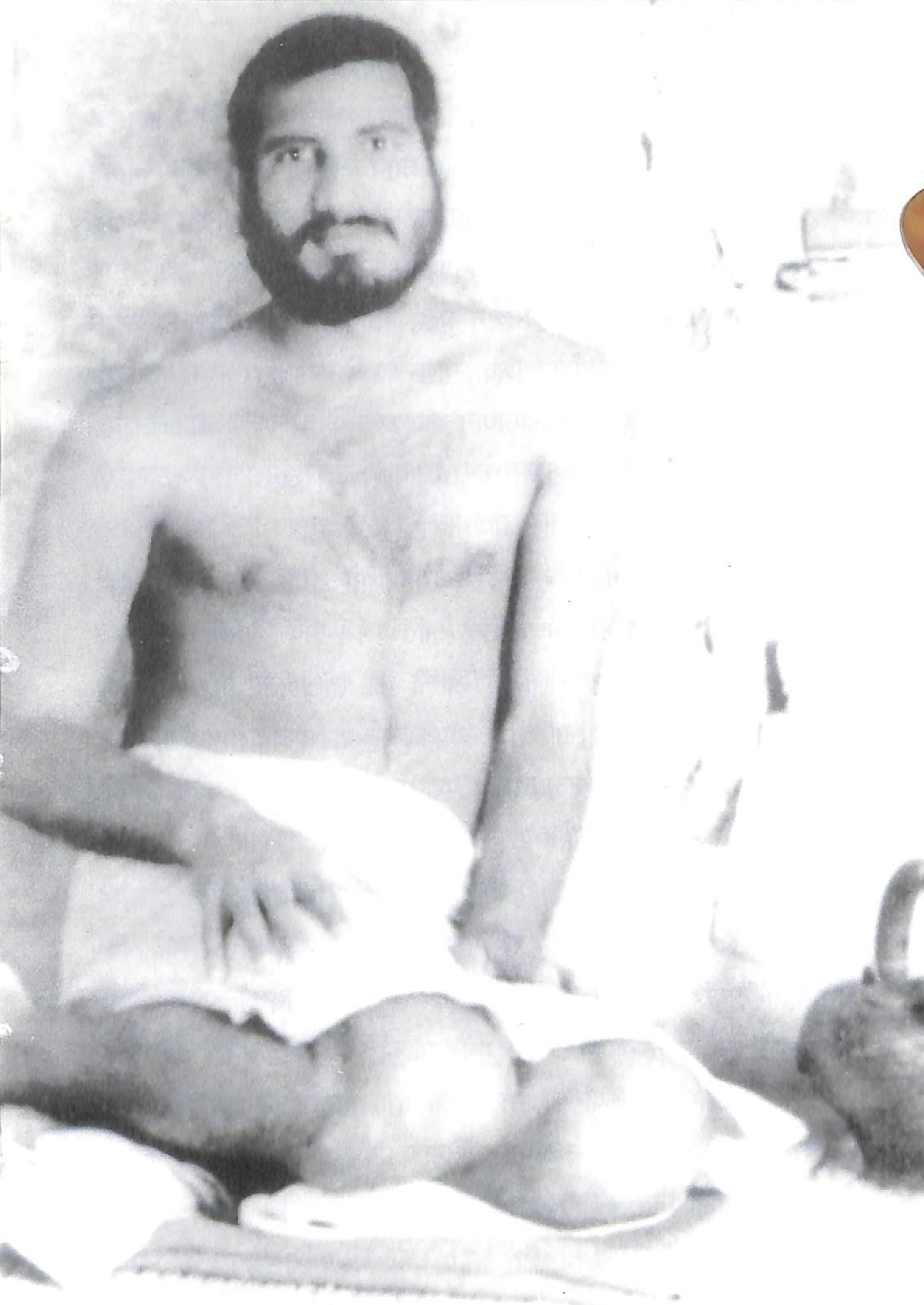


पूज्य स्वामीजी 21 वर्ष की आयु में (1951-52)

रहे थे तभी वैराग्य की तीव्र आँधी में सारे सांसारिक बंधनों को तोड़कर, अपने आत्मीय स्वजनों को सदा के लिये छोड़ कर, आप अपने प्रियतम से मिलन के लिये अकेले निकल पड़े।

सन् 1953 में आपने दिवंगत महान् संत श्रीकृष्णदासजी उदासीन, जो श्रीचन्द्र-चिनार बड़ा उदासीन अखाड़ा, श्रीनगर (जम्मू-काश्मीर) के महंत थे, से सन्यास का चोला ग्रहण किया तथा विधिवत रूप से उदासीन साधु हो गये। श्रीकृष्णदासजी के पार्थिव चोला छोड़ जाने के बाद, 11 अक्तूबर, 1994 को पूज्य श्रीचन्द्रस्वामीजी को पूरे संत समाज ने हरिद्वार में एक भव्य समारोह करके उक्त सिद्धपीठ के अध्यक्ष पद पर विराजमान किया। तभी से आप इस पवित्र पद की शोभा बढ़ा रहे हैं।

साधु बनने पर उन्होंने कुछ समय पैदल हिमालय भ्रमण किया। फिर आप श्रीनगर (काश्मीर) में चारों ओर हिमाच्छादित पर्वतों तथा दूर-दूर तक फैले सुन्दर झीलों के जमघट के बीच स्थित नितान्त एकान्त और सुन्दर स्थल, हरि-पर्वत पर जा विराजे। यहीं से आपकी कठिन तपस्या-साधना का विधिवत् रूप से आरम्भ हुआ। बाबाजी के दिव्य-संरक्षण में आप अपने अस्तित्व की गहराइयों में पूरे डूब गये। आपकी साधना के मुख्य अवलम्बन भगवन्नाम जाप, ध्यान, प्राणायाम, श्वास-प्रश्वास की कुछ क्रियाएँ, साक्षीभाव साधना तथा सर्वोपरि श्रीभगवान के प्रति अनन्य शरणागति का भाव था। सर्दियों में आप पहाड़ से नीचे उतर कर जम्मू में तवी नदी के पावन तट पर स्थित एक एकान्त गुफा में आ जाते थे। उसी गुफा में आपको उदासीन पंथ के आदि ऋषियों—सनक, सनन्दन, सनातन, सनतकुमार बन्धुओं के दर्शन हुए। उन्होंने स्वामीजी को एक विशेष मंत्र के जाप का आदेश दिया तथा फिर उन्हीं के दिशा-निर्देशों में स्वामीजी ने लगातार एक हजार रात्रियों



पूज्य स्वामीजी जम्मू की गुफा में (1955)

तक बिना किसी विक्षेप के उस मंत्र के जाप का अनुष्ठान किया। इसके अतिरिक्त साधना के आरम्भिक काल में आप को ध्यान-अवस्था में महर्षि अरविन्द, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, गुरुनानक देवजी, उदासीनाचार्य भगवान् श्रीचन्द्रजी, शेर पर सवार माँ दुर्गा, हनुमानजी, भगवान् बुद्ध, भगवान् ईसा मसीह, वनवासी भेष में भगवान् राम, भगवान् शिव, बाल भेष में भगवान् कृष्ण आदि के भी दर्शन (visions) होते थे। भगवान् बालकृष्ण के दर्शन तो आपको प्रायः होते ही रहते थे। आपको ग्रीस के रहस्यवादी संत हर्मिस ट्रैमेजिस्टस के तथा विश्व के अनेक अवतारों-संतों के भी दर्शन हुए।

धीरे-धीरे यह दर्शनादि होने बन्द हो गये तथा उच्च से उच्चतर अनुभूतियों की यात्रा करते-करते उन्हें अति दुर्लभ अपने वास्तविक स्वरूप का, अपने अजर-अमर कालातीत आत्मा का साक्षात्कार हो गया। तब आप मात्र 29 वर्ष के थे। तब तक आपके अद्भुत भगवद् ज्ञान-प्रेम, अति मनोरम दिव्य छवि तथा मृदु स्वभाव पर मुग्ध होकर सैकड़ों लोग आपके प्रेमी, सेवक, भक्त बन गये थे।

सन् 1961 में आप प्रभु-प्रेरणा से श्रीनगर-काश्मीर छोड़कर हरिद्वार में सप्त-सरोवर से कुछ दूरी पर गंगाजी की कई धाराओं से घिरे एक नितान्त अकेले और जंगली टापू में रहने लगे। यहाँ हिंसक और जंगली जानवरों से कितनी ही बार बाबा भूमनशाहजी ने आप की रक्षा की। उस स्थान पर आप प्रभु-कृपा के पूर्ण प्रकाश में 'आत्म-साक्षात्कार' की अति दुर्लभ अनुभूति से भी आगे अपने अंतिम पड़ाव की ओर चल पड़े, किन्तु अब यह यात्रा दुर्गम पथ वाली और संघर्षों से भरी न थी। अब तो मानो यह दिन के प्रखर प्रकाश में राजपथ पर रथारूढ़ एक राजकुमार की अपने

राजमहल लौटने की सहज यात्रा थी। और, श्रीहरि की अनन्त कृपा से उन्होंने मात्र 35 वर्षों की अल्पायु में अपना असली गन्तव्य पा लिया। वे कृतकृत्य हो गये। जन्मों-जन्मों की यात्रा की पूर्णाहूति हुई। उन्होंने निष्क्रिय, शान्त, साक्षी आत्मा तथा सार्वभौमिक भागवती शक्ति के बीच, और निर्गुण, निराकार सर्वातीत ब्रह्म तथा सर्वव्यापी, सर्वाधार, सगुण साकार ब्रह्म के मध्य पूर्ण सामन्जस्य का अनुभव कर लिया। परब्रह्म के विरोधाभासी प्रतीत होने वाले विभिन्न आयाम उनके लिये सहज रूप से समन्वित हो गये; माया का सम्मोहन सदा-सदा के लिये टूट गया और परम सत्य का यह समग्र अनुभव उनके अस्तित्व में सदा-सदा के लिए आत्मसात् होकर स्थायी हो गया। तभी से निरन्तर श्रीभगवान में स्थित, पूर्णतया भगवदेच्छा द्वारा ही संचालित होकर वे दिव्य अन्तर्प्रेरणा (divine intuition) से हमें अपनी दिव्य-लीला का रसास्वादन करा रहे हैं।

कोई नौ वर्ष गंगाजी के तट पर इस जंगली टापू में पूर्ण एकान्तवास करने के बाद सन् 1970 में गंगाजी में बाढ़ आ जाने पर सेवकों के अनुरोध पर आप सप्त-सरोवर में आ गये तथा वहाँ आपके सेवकों द्वारा आपके लिये बनाए गये एक छोटे से आवास 'सेवक-निवास' (सीकर्स ट्रस्ट द्वारा स्थापित) में आ विराजे। यहाँ आप आत्माराम होकर प्रायः सभी समय मौन तथा एकान्त में रहते हुये, सन् 1990 तक इस स्थान को सुशोभित करते रहे।

आपके अरण्यवास तथा सेवक-निवास में वास के दौरान सच्चे अध्यात्म प्रेमियों का खिंच कर आपके पास आना जारी रहा। आपने स्वयं तो कभी भी अपनी प्रचार-प्रसार आदि की ओर ध्यान नहीं दिया किन्तु जो भी सहज में आप के पास गया उसे सदा के लिये प्रेम-पूर्वक अपना कर

उसका जीवन ही पावन कर दिया। वे अपने भक्तों/शिष्यों के परमप्रिय और सर्वस्व हैं। भक्त उन्हें अपने माता-पिता से भी अधिक हितैषी और सुहृद समझते हैं।

समय के साथ-साथ पूर्व समय के शांत सप्त-सरोवर, हरिद्वार में धीरे-धीरे यात्रियों की बहुत भीड़ और व्यवसायीकरण होता गया तथा इस कारण वह स्थान स्वामीजी के पास आने वाले साधकों की साधना के अनुकूल नहीं रहा। अतः स्वामीजी की ही प्रेरणा और देख-रेख में सीकर्स ट्रस्ट ने सप्त-सरोवर स्थित सेवक-निवास को बेच कर जिला देहरादून में पवित्र यमुनाजी के तट पर, चारों ओर हिमालय श्रृंखलाओं से घिरे एक छोटे से एकान्त और सुरम्य स्थल, डुमेट-बाड़वाला गाँव में, साधना केन्द्र आश्रम बनवाया। सन् 1990 में पूज्य स्वामीजी अपने कुछ भक्तों के साथ हरिद्वार से यहाँ आ गये थे। यहाँ पूरे वर्ष भर सतत् रूप से बिना किसी प्रचार-प्रसार के पूज्य स्वामीजी के अलौकिक संरक्षण तथा मार्गदर्शन में देश-विदेश से, बिना किसी भेद-भाव के, सभी मतों, धर्मों और वर्गों के सैकड़ों साधक, भजन-साधन करके प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। पूज्य स्वामीजी की अलौकिक उपस्थिति ने आश्रम को एक अनूठी तपःस्थली बना दिया है। आश्रम परिसर में ही आस-पास के ग्रामीण क्षेत्र के विद्यार्थियों के लिये आठवीं कक्षा तक एक जनहित (चैरिटेबल) विद्यालय चलता है। शीघ्र ही आश्रम परिसर में एक जनहित चिकित्सालय भी आरम्भ होने जा रहा है।

कुछ वर्ष पहले महाराजजी के जम्मू-काश्मीर के भक्तों ने जम्मू में तवी नदी के तट पर स्थित उस गुफा का जीर्णोद्धार किया है जहाँ 50 वर्ष पूर्व महाराजजी ने कठिन तप किया था। गुफा के साथ ही, भक्तों ने कठिन

यमुना तट पर पहाड़ों के मध्य स्थित साधना केन्द्र आश्रम

जीर्णोद्धार के बाद जम्मू-स्थित श्रीचन्द्र गुफा साधना मंदिर

परिश्रम करके तवी के तट पर 'श्रीचन्द्र गुफा साधना मंदिर' के नाम से एक सुन्दर आश्रम भी बना दिया है। अतः कुछ वर्षों से भक्तों के अनुरोध पर आप वहाँ भी जाते रहते हैं। आपने अपनी इस पूर्व तपःस्थली में पूर्ण एकांत वास करके वर्ष 2002 तथा 2004 की गर्मियों में 2-2 महीने का अदर्श मौन भी रखा था। अदर्श मौन—अर्थात पूर्ण मौन के साथ-साथ किसी से भी मिलना-जुलना, लिखना आदि भी नहीं।

पिछले कुछ वर्षों से आपका जम्मू इस कारण से भी अधिक जाना हो जाता है क्योंकि श्रीनगर (काश्मीर) में स्थित श्रीचन्द्र चिनार आश्रम (जिसका पहले भी उल्लेख हुआ है) ने सिद्रा, जम्मू में, 'आचार्य श्रीचन्द्र कॉलेज ऑफ मैडिकल साइंसेज़ एंड हॉस्पिटल' के नाम से एक विशाल संस्थान स्थापित किया है। आप इस संस्थान के अध्यक्ष हैं। अतः संस्थान के महत्वपूर्ण कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए आपको जम्मू आने की विनती की जाती है।

स्वामीजी अपने विदेशी शिष्यों के बहुत अनुरोध पर विदेश भी थोड़े-थोड़े समय के लिये गये हैं तथा वहाँ उन्होंने 14-15 देशों की यात्रा की है। वहाँ इनकी दिव्य, सौम्य और भव्य मूर्ति ने अगणित लोगों को एक सच्चे संत और समर्थ सद्‌गुरु के रूप में प्रभावित किया है।

कुछ वर्षों पहले न्यूयार्क, अमरीका से छपने वाली प्रख्यात पत्रिका 'लाईफ' ने सभी देशों और धर्मों के आध्यात्मिक महापुरुषों का एक टीम द्वारा सर्वेक्षण करवाया था। इसके परिणाम स्वरूप पत्रिका के दिसम्बर, 1991 के अंक में 'Men of God' शीर्षक से विश्व के प्रमुख संतों तथा धर्मगुरुओं का परिचय प्रकाशित किया गया था। इनमें तिब्बती धर्मगुरु पूज्य दलाईलामा, पूज्य पोप जॉन पॉल द्वितीय तथा इजिप्ट, जापान, नार्वे, इंग्लैंड

व इज़राइल के अन्य धर्मगुरुओं के साथ-साथ हिन्दू धर्म के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि तथा सच्चे आध्यात्मिक महापुरुष के रूप में पूज्य स्वामीजी के परिचय सहित दो पृष्ठों में उनकी तस्वीर भी छपी थी।

पूज्य स्वामीजी का व्यक्तित्व अत्यन्त भव्य और छवि अति मनोरम है। मुखमंडल पर परिस्थितियों से प्रभावित न होने वाली, सतत् एकरस बनी रहने वाली, पूर्णता की परिचायक प्रसन्नता-मुदिता सदा ही विराजमान रहती है। सात्विक सौन्दर्य, रूप-लावण्य और दिव्यता तो जैसे उनके अंग-प्रत्यंग से फूटी पड़ती है। सुगठित, लम्बा-चौड़ा किन्तु बहुत सुकोमल और मनमोहक व्यक्तित्व, गेरुए रंग का चरण-कमलों तक लटकता ढीला-ढाला चोगा, पुष्ट स्कन्धों तक लटकते उनके रेशम से मुलायम श्वेत केश, लम्बी स्वच्छ, शुभ्र घनी दाढ़ी, चमकीला चौड़ा प्रशस्त ललाट, दिव्य आनन्द, कोमलता और नम्रता उड़ेलती उनकी वे रसीली और सुन्दर ध्यानी आँखें, सुन्दर नासिका, भक्तों का हृदय चुरा लेने वाली उनके सुकोमल होठों पर सदा बसने वाली वह मन्द-मन्द मीठी मुस्कान, तपाये हुए सुवर्ण की-सी लालिमा मिश्रित उनके चेहरे की कान्ति तथा योग की आभा, भगवद्प्रेम, करुणा, सौम्यता और नम्रता से नहाया उनका वह शान्त, आरक्त चेहरा और सर्वोपरि, उनके मुख मण्डल पर सदा निवास करने वाली अजीब सी वह बेपरवाही और निःसंगता, मानो वे हर पल किसी दूर देश के वासी भी हों। उनके अपार्थिव सौन्दर्य और अनन्त गुणों का वर्णन कैसे करें? उनके दर्शन मात्र से ही व्यक्ति आस्तिक हो जाते हैं। उनका दिव्य आकर्षण सदा ही नित-नूतन बना रहता है। उनका दर्शन करते कोई थकता नहीं। कितने ही भक्त उनके बार-बार दर्शन करके भी बार-बार अवाक् रह जाते हैं।

उनकी चाल व हाव-भाव में सम्राटों की सी भव्यता व शालीनता है। उनका व्यवहार और बाह्य चेष्टाएं बड़ी ही संतुलित, मर्यादित, सुरुचिपूर्ण और संगीतमय हैं। वे बड़े मेहमान-नवाज़ और छोटे-बड़े सभी का सम्मान करने वाले हैं। वे परम क्षमाशील और दयावान हैं। वे बड़े ही संकोची तथा किसी भी वस्तु या स्थिति में दावा तथा अधिकार न रखने वाली वृत्ति के हैं। आप अपने भक्तों के साथ ही नियमित रूप से खेलते, व्यायाम करते तथा भोजन आदि करते हैं तथा सभी के साथ नियमित रूप से सामूहिक साधन-भजन में भी बैठते हैं। आप सभी को समान रूप से उपलब्ध हैं। आप की दिव्य दृष्टि में कोई जात-पात, धर्म, मत-मतान्तर, छोटे-बड़े का भेद नहीं है। आप की दैनिक-चर्या, खान-पान, निद्रा, आहार-विहार—सभी कुछ संतुलित और सम्यक् है। आप बहुत विनोदप्रिय तथा बालवत् सरल हैं। सभी के साथ आपका व्यवहार मित्रों का सा सरल तथा अनौपचारिकता लिये होता है। इतना महान होने तथा हजारों लोगों का आराध्य होने के बावजूद आपमें लेशमात्र भी अभिमान नहीं है।

15 अक्तूबर, 1984 से ही साक्षात् भगवद्प्रेरणा से वे अनिश्चित काल के लिए पूर्ण मौन हो गये थे और पिछले बीस से भी अधिक वर्षों से उनका यह मौन अखण्ड रूप से जारी है। पिछले दो वर्षों से कभी उनकी मौज होती है तो वर्ष भर में एक आध बार 'ॐ' का उच्चारण कर देते हैं। लेकिन शायद अपने मौन द्वारा वे सच्चे साधकों/जिज्ञासुओं से अपनी वाणी की अपेक्षा अधिक सशक्त रूप से संवाद कर रहे हैं, उन्हें जीवन्त दान दे रहे हैं। सुगंध की तरह वे आश्रम के कण-कण और प्रत्येक भक्त के हृदय में बसे हुए हैं। जब वे बोला करते थे तो उनकी वाणी भी बड़ी सारगर्भित, मधुर और रसपूर्ण थी। समझ में नहीं आता कि उनकी वाणी

ज्यादा मुखर थी या यह मौन! वे हंसते हैं तो जैसे सतरंगी फूल झड़े हों!

इस मौन की अवधि में वे भक्तों की शंकाओं का निवारण लिख कर करते हैं। उनकी लेखनी सटीक, पैनी, सारगर्भित, संक्षिप्त, सरल, सुललित और बड़ी ही प्रभावशाली होती है। आपका हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू तथा गुरुमुखी भाषाओं पर अच्छा अधिकार है। निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ, जीवन-मरण, आकर्षण-विकर्षण, दुःख-सुख, संयोग-वियोग, रोग-निरोग और सभी द्वन्द्वों से परे उनका जीवन एक समभाव में स्थित है। आप को कभी किसी ने क्रोध करते नहीं देखा। कोई भी परिस्थिति उनकी सौम्यता, संतुलन, स्थिरता और स्वाभाविक प्रसन्नता में क्षोभ नहीं डाल पाती। सदा ही अपने अस्तित्व के सच्चे केन्द्र में निवास करने के कारण आप प्रत्येक स्थिति में हमेशा भरे-पूरे दिखायी देते हैं।

लेकिन समभाव में स्थित होने का अर्थ यह नहीं कि आप लापरवाह हैं या कार्यकुशल नहीं हैं। आप जैसा व्यवहारकुशल और व्यावहारिक ज्ञान वाला अन्य व्यक्ति शायद ही कोई होगा। आपको अपने सूक्ष्म निरीक्षण, अद्भुत सीखने की कला तथा प्रयोगात्मक वृत्ति के कारण भवन-निर्माण, पाकशाला, बिजली-पानी, साफ-सफाई, गृह-व्यवस्था, साज-सज्जा, पशुपालन, तथा व्यावहारिक दृष्टि से सभी उपयोगी विषयों का बहुत अच्छा ज्ञान है। आप एक बहुत कुशल प्रबन्धक तथा प्रशासक भी हैं।

अध्यात्म जैसे गूढ़ और असीमित विषय के तो मानो आप सहज सम्राट हैं। इस विषय का कोई भी आयाम आप से अछूता नहीं। साधना काल की सभी बारीकियों से स्वानुभव द्वारा आप पूर्ण परिचित हैं। विभिन्न पंथ-परम्पराओं की सभी प्रमुख साधन-ध्यान की विधियों का आपको अधिकारपूर्ण ज्ञान है।

आप एक सच्चे सद्गुरु की तरह व्यक्तिगत स्तर पर प्रत्येक साधक की भिन्न-भिन्न प्रकार से मदद व मार्गदर्शन करते हैं। आप कोई चमत्कार, तमाशा तथा शक्ति प्रदर्शन नहीं करते अपितु विशुद्ध आध्यात्मिकता की शिक्षा देते हैं। किन्तु हमें इससे बड़ा और कोई चमत्कार नहीं लगता कि आप इस दुर्जेय, अतिचंचल तथा कठिन मन के पूरे स्वामी हैं। एक मालिक की तरह आप अपने मन का उपयोग करते हैं, मन को अपना उपयोग नहीं करने देते। इसीलिये मनोविज्ञान जैसे गूढ़ विषय पर भी आपका असाधारण प्रभुत्व है और मानसिक व्याधियों के सम्बन्ध में आप बड़ा स्वस्थ मार्गदर्शन करते हैं। आपका सद्शास्त्रों का एवं अन्य पुस्तकीय ज्ञान भी बहुत विशाल है।

अध्यात्म में आप अद्भुत रूप से समन्वय स्वरूप हैं। इसीलिये भगवान में जन्मजात श्रद्धाजनित विश्वास रखने वाली अनपढ़ ग्रामीण वृद्ध माता को भी आप उतने ही प्रिय हैं जितने कि किसी शिक्षा सम्पन्न, संशयवादी पाश्चात्य आलोचक को। दरअसल आपका दिव्य आकर्षण व्यक्ति के मूल्यों, आस्थाओं, सामाजिक परिवेश, शिक्षा आदि पर निर्भर नहीं करता, वह तो पूर्वनिर्मित संस्कारों के घेरे को तोड़ कर व्यक्ति के हृदय तक पहुँच जाता है। आपके करुणा मिश्रित, संतुलित और वैज्ञानिक जीवन-दर्शन से विदेशी साधक सदा ही आप पर मुग्ध रहते हैं। कोई-कोई तो इन्हें देख कर कहते हैं, "ये मुझे मेरी मां लगते हैं। .... वे आते हैं तो जैसे सूर्य आ रहा है।......." आदि-आदि। निश्चय ही वे पूर्व और पश्चिम का सर्वोत्तम संगम हैं।

उनके गुणों का तो अन्त नहीं है और समय तथा स्थान की मर्यादा है। अतः अनन्त विस्तार वाले उनके पावन चरित्र को हम यहीं विश्राम देते हैं।

इस जीवनी के सम्बन्ध में ऋण मोचन स्वरूप आभार व्यक्त करने हैं। इस जीवन कथामृत के बहुत से तथ्यात्मक अंश पूज्य स्वामीजी के प्रिय फ्रांसीसी शिष्य दिवंगत पूज्य श्रीआनन्दजी (Yvan Amar) द्वारा लिखित स्वामीजी की जीवनी से लिये गये हैं। पूज्य श्रीआनन्दजी सन् 1970 में पूज्य गुरुदेव (स्वामीजी) के पास आए थे तथा अपनी असाधारण लगन तथा साधना से शीघ्र ही स्वामीजी के बहुत निकट एवं प्रिय बन गये थे। पूज्य स्वामीजी ने तो जीवन भर कभी भी किसी से अपने बारे में किसी तरह की चर्चा नहीं की, बल्कि उससे बचते ही रहे। आनन्दजी अपनी घनिष्ठता के कारण उनसे खोद-खोद कर जो भी थोड़ा कुछ जान सके उसे उन्होंने नोट कर लिया। उसी के आधार पर उन्होंने स्वामीजी का संक्षिप्त जीवन-चरित्र लिख दिया। अतः पूज्य स्वामीजी का भक्त वृन्द पूज्य श्रीआनन्दजी का उनकी इस अमूल्य भेंट के लिये सदैव-सदैव ऋणी रहेगा। पूज्य श्रीआनन्दजी उच्च आध्यात्मिक अनुभूति सम्पन्न विभूति थे तथा फ्रांस के ख्याति प्राप्त आध्यात्मिक गुरुओं में से एक थे। फ्रांस में सैकड़ों लोग उनके प्रवचन तथा सत्संग सुनने आते थे। दिनांक 18-06-99 को लम्बी बीमारी के बाद मात्र 49 वर्ष की आयु में उन्होंने देह-त्याग दी थी। उनके प्रति बार-बार प्रणाम।

वर्तमान पुस्तक 'भगवत्-प्राप्ति' के बारे में

पूज्य गुरुदेव ने अपनी अद्वितीय पुस्तक 'The Practical Approach to Divinity' भक्तों के अनुरोध पर सन् 1963 के आस-पास तब लिखी थी जब वे गगांजी के तट पर झाड़ी में रहा करते थे। वस्तुतः गुरुदेव ने अपने जीवन में एक मात्र यही पुस्तक लिखी है,—अध्यात्म जैसे विशद् व

गूढ़ विषय पर एक मात्र यही पुस्तक! उनका अन्य साहित्य तो उनके पवित्र उपदेशों, उद्गारों, प्रश्नोत्तरों, पत्रों आदि का संकलन है। अतः सैद्धान्तिक व क्रियात्मक दोनों दृष्टियों से, गुरुदेव के समग्र आध्यात्मिक जीवन-दर्शन का विषयवार तथा क्रमबद्ध सार है यह छोटी सी पुस्तक! यह पुस्तक फ्रैंच, जर्मन, हिब्रू, अरबी भाषाओं में अनुदित होकर प्रकाशित हो चुकी है तथा स्पैनिश, गुजराती, पंजाबी आदि अन्य भाषाओं में इसके अनुवाद के प्रकाशन की प्रक्रिया चल रही है। अस्तु।

प्रभु इच्छा से उन्हीं दिनों सहारनपुर के एक विद्यालय के प्रधानाचार्य श्रीचन्द्रबोधजी खत्री भी झाड़ी में महाराजजी के पास दर्शनार्थ आया करते थे। जब उन्होंने यह पुस्तक पढ़ी तो पढ़कर अभिभूत हो गये और कहने लगे—"इस छोटी सी पुस्तक में आपने अध्यात्म के बारे में सभी कुछ बता दिया है।" फिर स्वयं ही आग्रह करके उन्होंने उस पुस्तक का 'भगवत्-प्राप्ति के क्रियात्मक साधन' के नाम से हिन्दी भाषा में सुन्दर अनुवाद किया। महाराजजी ने उस अनुवाद की स्वयं समीक्षा करके उसमें कुछ श्लोकादि और जोड़े। इसी अनुवादित पुस्तक का यह चौथा संस्करण 'भगवत्-प्राप्ति' शीर्षक के नाम से है। इस चौथे संस्करण का पूज्य महाराजजी ने कृपापूर्वक एक बार पुनः अवलोकन करके उसमें प्रयोग किये गये कुछ कठिन शब्दों को सरल कर दिया है तथा कहीं-कहीं भाव की स्पष्टता हेतु कुछेक पक्तिँयां जोड़ी भी हैं ताकि सभी साधक इसका लाभ उठा सकें।

पुस्तक के आरम्भ होते ही महाराजजी ग्राह्यशील साधक की मानो उंगली पकड़ कर उसे आध्यात्मिक साधना के विभिन्न आयामों की यात्रा कराते हुए अंत में उस शिखर पर ले आते हैं जहाँ उसे अपने सच्चे स्वरूप का, श्रीभगवान का दर्शन हो जाता है; वह कृतकृत्य हो जाता है।

सर्वप्रथम, प्रथम अध्याय में महाराजजी अकाट्य युक्तियों और शास्त्रों के आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—'क्या परमात्मा है?' महाराजजी की अनुभवसिद्ध वाणी संशयवादियों तथा श्रद्धावान भक्तों, दोनों के ही हृदय में सीधी उतर जाने वाली है। परमात्मा की सत्ता को महाराजजी ने शाश्वत, स्वयंभू, स्वयं-सिद्ध तथा कार्य-कारण से परे आनन्दस्वरूप चेतना के रूप में दर्शाया है। इस 'चेतना' का अनुभव प्राणि-मात्र को अपने आत्मा अर्थात् 'मैं हूँ', इस प्रकार सहज, सतत् व निर्बाध रूप से होता रहता है। 'मैं हूँ' की यह मौलिकतम अनुभूति किसी भी व्यक्ति के गुण-दोष, स्वभाव या अन्य किसी भी बात पर निर्भर नहीं करती। यह अनुभूति किसी कर्म अथवा कारण का परिणाम भी नहीं है। अपनी 'अस्ति' का यह अखण्ड और अकारण बोध भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों में भी वैसा ही एकरस बना रहता है। साथ ही किसी भी प्राणि को कभी भी तथा कहीं भी अपने अस्तित्व के अभाव की प्रतीति नहीं होती तथा न ही अपनी जड़ता व अप्रियता का अनुभव होता है। इसी कारण यह आत्मा शाश्वत, स्वतःसिद्ध तथा सत्-चित्-आनन्द रूप कहा जाता है।

साधक के मन में सत्त-चित्त-आनन्द स्वरूप परमात्मा के प्रति आस्तिक भाव को दृढ़ करके अगले अध्याय, 'भगवत्-प्राप्ति—सम्भव एवं अनिवार्य', में वे साधक के हृदय में यह भावना बिठाते हैं कि अपने परम स्वभाव आत्मा अथवा परमात्मा की प्राप्ति करना ही जीव के लिये परम स्वाभाविक एवं एकमात्र कर्त्तव्य है। केवल परमात्मा की प्राप्ति द्वारा ही जीव सदा के लिये, एवं सब प्रकार से कृतकृत्य हो सकता है,— और यह भी, कि केवल परमात्मा की प्राप्ति ही सच्चे अर्थों में 'प्राप्ति' कही जा सकती है। क्योंकि, केवल यही ऐसी 'प्राप्ति' है जो मिल के कभी छूटती नहीं तथा सदा

के लिये 'प्राप्ति' ही बनी रहती है। इस स्थूल व सूक्ष्म जगत की अन्य सभी 'प्राप्तियां' तो कालान्तर में नष्ट होकर अन्ततः 'अप्राप्ति' में ही परिवर्तित हो जाती हैं। अतः वह आत्म-स्वरूप केवल परमात्मा ही है जिसे वस्तुतः सही अर्थों में प्राप्त किया जा सकता है, तथा जितनी शीघ्र साधक यह कर सके उतना ही उसका कल्याण है।

इसके बाद तीसरे अध्याय में नौ आधारभूत योग्यताओं की चर्चा की गयी है जो सत्य के किसी भी साधक में होनी परमावश्यक हैं। ये हैं— सत्य-हृदयता, पवित्रता, विवेक, वैराग्य, आत्म-निग्रह, निष्काम-कर्म अथवा सेवा, तत्त्व-चिंतन, आत्म-समर्पण तथा अध्यवसाय। महाराजजी का स्पष्ट मानना है कि शरीर तथा मन का उपरोक्त अनुशासन अपनाए बिना किसी भी साधक द्वारा आत्म-तीर्थ की महान् यात्रा का पथिक नहीं बना जा सकता। इन सभी आध्यात्मिक सद्गुणों का वर्णन महाराजजी ने उनके उच्चतम अर्थों में तथा बहुत हृदयग्राही, अनुभव-सिद्ध व मार्मिक भाषा में किया है।

चौथे अध्याय में महाराजजी ने अति महत्त्वपूर्ण विषय 'आध्यात्मिक ध्यान व चिन्तन' के दार्शनिक व क्रियात्मक, दोनों पक्षों पर अनूठे ढंग से प्रकाश डाला है। पहले विश्व के सभी धर्मों एवं पंथ-परम्पराओं में प्रचलित साधना-जाप-ध्यान आदि के सिद्धांतों का सार समझा कर बड़ी ही सरलता तथा स्पष्टता के साथ साधना की क्रियात्मक विधियों के रूप में पांच प्रकार के अभ्यास बताये हैं। ये सभी विधियाँ पूरी तरह वैज्ञानिक हैं तथा रूढ़ियों-कट्टरता से बिल्कुल परे हैं। पुस्तक पढ़ कर किसी भी धर्म अथवा मत का प्रबुद्ध साधक अपने मानसिक-शारीरिक गठन के अनुरूप तथा अपनी योग्यता के अनुसार किसी भी साधन विधि का चयन कर सकता है।

इसके उपरांत इसी अध्याय में साधक को बहुत ही सजगता पूर्वक तथा अपनी क्षमतानुसार ही अभ्यास करने की व्यावहारिक सलाह दी है।

फिर 'ध्यान-अभ्यास में बाधाएं' नामक शीर्षक से ध्यान के समय, 'मन का भटकना, निद्रा, सूक्ष्म जगत के आकर्षण, तथा 'अति' करने की प्रवृत्ति' जैसी बाधाओं का स्वरूप समझा कर साधक को उनके प्रति सावधान किया गया है। इसके बाद अंत में कुछ बातों को साधन-भजन में अत्यन्त सहायक बताकर उन पर निर्मल प्रकाश डाला गया है। ये हैं—युक्ताहार, प्राणायाम, सजगतापूर्वक श्वास-प्रश्वास, साधना हेतु उपयुक्त स्थान व समय, साधना में नियमबद्धता, सद्गुरु की आवश्यकता, नियमित स्वाध्याय व सत्संग तथा मध्यम-मार्ग-अनुमोदित संतुलित आहार-विहार। साधना में साधक तथा बाधक बातों के बारे में सूक्ष्म जानकारियाँ व अंतर्दृष्टि बहुत ही उपयोगी हैं तथा साधक इनके द्वारा साधना में आने वाले कितने ही व्यवधानों से छुटकारा पा लेता है।

इसके बाद आध्यात्मिक यात्रा के विभिन्न पड़ावों पर सच्चे साधकों को होने वाले कुछ अनुभवों के बारे में संकेत किया गया है जो मील के पत्थरों की तरह हैं तथा जिनसे साधकों को अपनी साधना में उत्साहपूर्वक आगे बढ़ने का सम्बल मिलता है।

अंत में सर्वशक्तिमान, सबके आत्मस्वरुप, करुणासिंधु, भक्तवत्सल, सच्चिदानन्दस्वरुप श्रीभगवान के प्रति आध्यात्मिक जीवन में प्रार्थना के महान् महत्व को दर्शाया गया है तथा साधक से पूरे प्राण-प्रण द्वारा उस परमात्मा की प्राप्ति के लिये परम पुरुषार्थ करने का आवाहन किया गया है, जिसे प्राप्त करके जीव सदा-सदा के लिये कृतकृत्य हो जाता है तथा अपने सच्चे स्वरूप में स्थित हो जाता है। पुस्तक में एक विचारशील जिज्ञासु अथवा साधक के मन में उठने वाले प्रायः सभी दार्शनिक व साधना सम्बंधी प्रश्नों के उत्तर हैं। सर्वतोधिक यह पुस्तक इसलिए भी विलक्षण है क्योंकि यह एक ब्रह्मनिष्ठ परमयोगी की भगवदेच्छानुसार लोकहित हेतु एक दिव्य

कृति है। पूज्य गुरुदेव के उपदेश की एक और विशेषता यह है कि इसमें साधना के संतुलित तथा सम्यक् स्वरूप का ही निर्देश है तथा अतिवादिता से बचने का संदेश है। उनके अनुसार जो साधक जहाँ है और जैसा है, वह वहीं से परमात्मा की ओर सफलतापूर्वक यात्रा कर सकता है। अर्थात् सन्यास, गृहस्थ अथवा अन्य बाह्य परिस्थितियों को बहुत महत्त्व नहीं दिया गया है; अध्यात्म को उसके शुद्ध स्वरूप में इंगित किया गया है। यह एक महान् आश्वासन है हम सभी के लिए।

अहो! यह परम आश्चर्य की बात है कि इतनी छोटी सी पुस्तक में अध्यात्म के अथाह विषय का सार समाया हुआ है। पुस्तक की भाषा सरल किन्तु बहुत मार्मिक है व वैज्ञानिक कलेवर लिये हुए है। पूरी पुस्तक में महाराजजी का अनुभव-सिद्ध ज्ञान तथा प्रभु-प्राप्ति के प्रति उनका विनम्र किन्तु गहन आग्रह तथा शीघ्रातिशीघ्र 'उसकी' प्राप्ति की अनिवार्यता का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है।

हमें तो यह प्रतीत होता है कि एक सच्चे साधक के जीवन की नाम-रूपात्मक असंख्य स्थूल घटनाओं से रहित यह पुस्तक हमारे गुरुदेव की स्वयं की अति कठिन व रहस्यमयी आध्यात्मिक साधना का क्रमबद्ध व साक्षात भावरूप दर्शन है। इसीलिए यह पुस्तक जीवंत है, रूपान्तरण करने वाली है।

उनके इस महादान के लिए उनके प्रति बार-बार कृतज्ञता। चरण-कमलों में सहस्रों प्रणाम सहित,

साधना केन्द्र आश्रम
डुमेट, देहरादून
दिनांक: 16-11-04

सेवक
स्वामी प्रेमविवेकानन्द



उद्बोधन

जागिये! समय बीता जा रहा है! भगवद् स्मरण करिये।
परम सत्य परमात्मा का साक्षात्कार कर लीजिए,
इससे पहले कि जीवन मृत्यु में बदल जाये।

चन्द्रस्वामी



क्या परमात्मा है?

परमात्मा है। उसका अस्तित्व इतना स्पष्ट है कि उसको सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। कोई प्रमाण उसके अस्तित्व की पुष्टि नहीं कर सकता और न ही किसी प्रकार का खण्डन उसके अस्तित्व को निर्बल बना सकता है। परमात्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों को ही प्रमाणित किया जा सकता है अथवा उनका खण्डन भी हो सकता है, परन्तु परमात्मा खण्डन-मण्डन का विषय नहीं है।

परमात्मा आप के अन्दर आत्मा के रूप में नित्य विद्यमान है। आत्मा का अस्तित्व तो स्वयं सिद्ध है ही क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है। आत्मभूत 'अपने आप' को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। 'मैं हूँ'—यह मन की कोरी मान्यता अथवा कल्पना नहीं है बल्कि प्रत्येक आत्मा की सहज अनुभूति है। 'मैं नहीं हूँ'—यह मन की कल्पना है और वह भी ऐसी कल्पना जिसका अनुभव में आना कदापि सम्भव ही नहीं है। अपने अभाव, अपनी जड़ता एवं अप्रियता का अनुभव किसी को कभी हो ही नहीं सकता। अपने अस्तित्व को कौन अस्वीकार करता है?—केवल एक हत-बुद्धि। अपने अस्तित्व के विषय में निश्चयात्मक वचन—'मैं हूँ'—सब प्रकार के तर्कों की परिधि से परे है। इस 'मैं' को मिथ्या अहं, जो एक परछाई मात्र है, समझने की भूल नहीं कीजियेगा। अन्तर्मुख हो गहरी डुबकी लगाइये और सच्चे 'मैं' को जानने का प्रयास कीजिये।

परमात्मा चेतना है—चेतना इस या उस वस्तु की नहीं, इस या उस व्यक्ति की नहीं परन्तु चेतना जैसी कि वह स्वयं अपने आप में है। क्या चेतना के अस्तित्व का खण्डन किया जा सकता है? चेतना के अस्तित्व का खण्डन आप बिना चेतना के कर ही किस प्रकार सकेंगे? चेतना के अस्तित्व का अभाव यदि चेतना के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे तो वह चेतना के अभाव की कल्पना को निवृत्त कर देगा। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय की त्रिपुटी चेतना के द्वारा ही प्रकाशित होती है। अतः चेतना की सिद्धि के लिए उनकी तनिक भी अपेक्षा नहीं है। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय की इस त्रिपुटी के भाव और अभाव का प्रकाशक भी चेतना ही है। त्रिपुटी में चेतना का अन्वय है और चेतना त्रिपुटी से व्यतिरिक्त है। अभिप्राय यह है कि चेतना स्वतः प्रामाण्य है, परतः प्रामाण्य नहीं। यदि कोई व्यक्ति आप के पास आता है और सुमधुर शब्दों में कहता है कि उसकी जिह्वा नहीं है, तो क्या आप उसका विश्वास कर लेंगे? कदापि नहीं। संसार की सभी वस्तुएँ निर्जीव हैं, वास्तव में यह चेतना ही है जो उन्हें प्रकाशित करती तथा जीवन प्रदान करती है—

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।" (कठोप॰ 2.2.15)

वे लोग जो चेतना को जड़ द्रव्य का परिणाम अथवा किसी कार्बनिक यौगिक का उबाल (effervescence of a carbon compound) अथवा रासायनिक तत्त्वों और भौतिक ऊर्जा का पुनः वितरण मात्र समझते हैं, वे सत्ता के ऊपरी तल पर खेलने वाले अथवा सृष्टि की बाह्यरूपता को ही देखने वाले बालक हैं। वे न केवल अन्तरात्मा के गहरे सहज-ज्ञान से ही

अनभिज्ञ हैं, अपितु बौद्धिक चिन्तन की उच्चतर उड़ान से भी। ऐसे हेतुवादी (rationalist) मित्रों से और अधिक विवेक की अपेक्षा की जाती है। जड़ तत्त्व किस प्रकार दुःख-सुख का अनुभव कर सकता है? क्या यह कभी समझ में आने योग्य है कि जड़ द्रव्य, चाहे वह कैसे भी रूपान्तरण को प्राप्त क्यों न हो जावे, अपने आप को समझने या जानने अथवा अपने आप पर शासन करने के योग्य बन सकता है?

यदि तर्क की दृष्टि से यह मान भी लिया जाये कि चेतना कालगत उत्पन्न एक पदार्थ है तो भी इसकी उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था को बताना होगा, परन्तु बिना चेतना के वह भी सम्भव नहीं। ऐसी चेतना-रहित स्थिति, जिसका किसी को भी अनुभव न हुआ हो, कपोल-कल्पना मात्र अर्थात् सर्वथा मिथ्या ही होगी। दूसरी बात यह कि चेतना का यह अस्तित्व वर्तमान में तो अपरोक्षतः सत्य है ही, और सत्य का अभाव कभी नहीं होता। अतएव चेतना की उत्पत्ति मानना सर्वथा युक्ति-असंगत है। चेतना की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश भी होगा। गीताजी के शब्दों में—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः।।" (गीता 2. 16)

"असत् वस्तु का तो अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इन दोनों का तत्त्व बुद्धिमानों द्वारा देखा गया है।"

हम लम्बी दूरियों की कल्पना उतनी ही सरलता से कर सकते हैं, जितनी कि कम दूरियों की। एक किलोमीटर की दूरी के विषय में धारणा करने के लिए हमें उससे अधिक स्थान अथवा प्रयत्न की आवश्यकता नहीं

पड़ती, जितने स्थान अथवा प्रयत्न की आवश्यकता हमें एक इंच के विषय में धारणा करने के लिए पड़ती है। हम काल की अधिक लम्बी घड़ियों की कल्पना कर सकते हैं अथवा चाहें तो क्षणमात्र की ही स्मृति पर एकाग्रता प्राप्त कर सकते हैं। हमारे अनुभव में अनेक प्रकार के प्रतिरूप एकत्रित (images) रहते हैं। किन्तु हम स्वेच्छानुसार इन प्रतिरूपों को छोटा या बड़ा कर सकते हैं अथवा आपस में मिला सकते हैं। जैसे—हमने कभी ऐसा प्राणी नहीं देखा जिसका धड़ तो मनुष्य का हो लेकिन सिर हाथी के सिर जैसा हो, परन्तु हम ऐसी धारणा कर सकते हैं। क्या इससे स्पष्ट नहीं है कि चेतना देश-काल की परिधि में परिमित नहीं है? क्या यह अनुभव में नहीं आता कि जिन व्यक्तियों में चेतना के उच्चतम स्तर का प्राकट्य होता है, वे ही सृष्टि पर प्रभुत्व स्थापित करते हैं?

वास्तव में चेतना पूर्ण स्वतन्त्र या निर्पेक्ष है यह एक ऐसा प्रमुख तथ्य है जो समाधिजन्य ज्ञान पर आधारित है। यह (चेतना) पूर्ण है। चेतना जो पूर्ण है वह अवश्यमेव निःसीम आनन्दस्वरूपा अथवा निःसीम आनन्दमयी होगी, क्योंकि चेतना में ससीम होने की भावना (प्रतीति) ही दुःख की सूचक है। अपूर्णता की भावना से मुक्त चेतना पूर्णानन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए पूर्ण सत्, पूर्ण चित् एवं पूर्ण आनन्द ही परमात्मा के पर्यायवाची हैं।

क्या आप का हृदय अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त अवस्था में, जब कि जीवन की समस्त आशायें धूमिल हो गई हों, उस परात्पर प्रभु की ओर आशाभरी दृष्टि से नहीं निहारता, उससे प्रार्थना नहीं करता और इस प्रकार एक अदृश्य महान् शक्ति का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता? क्या आप अत्यधिक हर्ष की उस अवस्था में, जबकि आप की समस्त दुर्गम कठिनाइयाँ आपके

तनिक प्रयत्न के बिना ही विसर्जित हो जाती हैं, उस प्रभु की सत्ता को स्वीकार नहीं करते? क्या परमात्मा आपकी अन्तरात्मा के रूप में, आपको उस समय अन्दर से कोसता और धिक्कारता नहीं, जब आप अनधिकार चेष्टा-परायण बहिर्मुखी होकर किसी नीच तथा ईर्ष्यापूर्ण पापकर्म को करने पर तुल जाते हैं? क्या आप की अन्तरात्मा, मानसिक शान्ति एवं नीरवता के विरले क्षणों में, किसी अज्ञात शाश्वत शान्ति को तेजी से उछल कर प्राप्त करने के लिए आकांक्षा नहीं करती? कभी-कभी ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती हैं जिनके ऊपर न तो प्रकृति के नियम लागू होते हैं और न मन ही जिन का स्पष्टीकरण करने में समर्थ होता है। क्या ये सभी आप को किसी ऐसी परम सत्ता का दिग्दर्शन नहीं कराते, जो प्रकृति के नियमों की परिधि से परे तथा उनसे ऊपर हो?

किसने यह अत्यधिक वैचित्र्यपूर्ण स्वयं-यथाकाल-व्यवस्थित एवं स्वयं-यथाक्रम-प्रचालित (self-adapting and self-adjusting) मानव-शरीर की रचना की, जिसको देखकर सर्वोच्च मानव-बुद्धि भी चक्कर में पड़ जाती है? मनुष्य का मस्तिष्क किसने बनाया? गुर्दे किसने बनाये? एक कीट के शरीर में रक्त कौन बनाता है? पक्षियों के पंखों को, जिन की यथार्थ प्रतिलिपि कोई पारंगत मानव चित्रकार भी नहीं कर सकता, इतने कलात्मक ढंग से कौन चित्रित करता है? आप इसके उत्तर में कह सकते हैं—प्रकृति। परन्तु यह प्रकृति (nature) है क्या? यह जड़ है अथवा चेतन? यदि इसको जड़ मानेंगे तो प्रकृति के द्वारा ऐसे अद्‌भुत एवं कौशलपूर्ण कार्य कदापि सम्पन्न नहीं किये जा सकते और यदि प्रकृति को महान् चेतन-शक्ति मानेंगे, तो वह प्रकारान्तर से परमात्मा को ही मानना होगा।

बहुत ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने से यह ज्ञात होता है कि संसार की

समस्त वस्तुएँ संयोग के आधार पर नहीं परन्तु किसी सुनिश्चित नियम-व्यवस्था के अनुसार कार्यरत हैं—सूर्य, चन्द्रमा, तारागण इत्यादि निश्चित गतियों के साथ निर्दिष्ट मार्ग से, बिना एक-दूसरे से टकराये, गतिशील हैं। ऋतुएँ और दिवस तथा रात्रि क्रमिक योजनाबद्ध परिवर्तन को प्राप्त होते रहते हैं। जगत् के इस समस्त नाटक का निर्देशन एवं नियन्त्रण कौन कर रहा है? क्या यह सब किसी निःसीम चेतन-सत्ता को नहीं दर्शाता, जो छिपकर इस सारे जगत् की योजना का निर्देशन कर रही है?

आपके फेफड़ों को गति कौन देता है? आपके हृदय में धड़कन कौन कराता है? आपके नेत्रों को ज्योति कौन प्रदान करता है? आपके बालों को कौन उगाता है? आपके चित्त को चिन्तन कौन कराता है? आपके कानों को सुनने की, पाँवों को चलने की तथा हाथों को पकड़ने की सामर्थ्य कौन देता है? क्या आपने कभी इस 'कौन' को जानने का प्रयास किया है?

विश्लेषणात्मक चिन्तन (analytical thinking) में गहरे उतरने पर यह दृष्टिगोचर होने लगता है कि दृश्य जगत् शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श के गुणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परन्तु गुण बिना आधार के टिकेंगे कहाँ? गुण क्या बिना गुणी के रह सकते हैं? वह क्या है जो इन गुणों का आधार है तथा इनको सारपूर्ण रूप देता है?

सृष्टि की कल्पना एक अबाधित प्रवाह वाली ऊर्जा (energy) के रूप में भी की जा सकती है। इस ऊर्जा का प्रवाह कहाँ से हो रहा है? इसका कोई न कोई उद्गम अवश्य होगा। वह अनन्त एवं अक्षय स्रोत क्या है, जिससे यह जगत् रूपी समस्त ऊर्जा प्रवाहित हो रही है?

प्रत्येक व्यक्ति शाश्वत जीवन व्यतीत करना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति, जाने अथवा अनजाने, अनन्त एवं असीम आनन्द की खोज कर रहा है।

जीवन में ज्ञानप्राप्ति की भी एक व्यापक एवं स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा पायी जाती है—आप सदैव अधिक-और-अधिक जानना चाहते हैं। इन सबका कारण क्या है? क्या ये परोक्ष रूप से यह संकेत नहीं देते कि शाश्वत जीवन, निःसीम आनन्द और पूर्ण ज्ञान जैसी भी कोई वस्तु विद्यमान् है? क्या यह पूर्ण सत्-चित्-आनन्द-सत्ता ही नहीं है जो आप को सतत् अन्दर से आवाहन कर रही है तथा जो बाहर से भी विकास के पथ पर आपको आकर्षित कर रही है?

संसार की वस्तुओं में नित्य-परिवर्तनशीलता हम में से प्रत्येक का सामान्य अनुभव है। अब, किसी वस्तु—मान लिया कि वह वस्तु 'क' है—में परिवर्तन केवल उस समय जाना जा सकता है जबकि 'ख' नामक कोई दूसरी वस्तु हो, जो 'क' की तुलना में कम परिवर्तनशील हो। पुनः, 'ख' में होने वाले परिवर्तन केवल तभी जाने जा सकेंगे जब कि 'ग' नामक कोई अन्य वस्तु हो, जो 'ख' से सापेक्षतः कम परिवर्तनशील हो। इसी तरह 'ग' में होने वाले परिवर्तन का अनुभव अवश्य ही किसी 'घ' नामक ऐसी वस्तु की अपेक्षा करता है, जो 'ग' से भी कम परिवर्तनशील हो—और इसी प्रकार लगातार तुलना करते हुए अन्त में हम किसी ऐसी वस्तु तक पहुँचते हैं, जो पूर्णरूपेण अपरिवर्तनशील है। तात्पर्य यह कि परिवर्तनशीलता का अनुभव केवल तभी किया जा सकता है, जब कोई ऐसी वस्तु वर्तमान हो, जिसमें रंचमात्र भी परिवर्तन न हो। वह अपरिवर्तनशील 'कोई वस्तु' क्या है?

आप कहते हैं—"आज से बीस वर्ष पहले अमुक-अमुक जिन वस्तुओं को जिस 'मैं' ने देखा था, वही 'मैं' वर्तमान काल में इन-इन वस्तुओं को देख रहा है।" आपका ऐसा कथन सिद्ध करता है कि वर्तमान

में आप वही हैं, जो आज से बीस वर्ष पहले थे। अर्थात् आपका आज से बीस वर्ष पहले का जो 'मैं' था, वही आपका 'मैं' आज भी वैसे का वैसा ही विद्यमान है। यह परिवर्तन रहित 'मैं' कौन है, जिसके भूतकाल तथा वर्तमान काल में नित्य-विद्यमान होने की आप घोषणा करते हैं? आप का स्थूल शरीर तो यह 'मैं' हो ही नहीं सकता क्योंकि उस (स्थूल शरीर) में तो परिवर्तन हो गया अर्थात्, जो आज से बीस वर्ष पहले आपका शरीर था, वह आज नहीं है। इसी प्रकार आप के मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार भी सर्वथा बदल गये। अतएव आपका यह 'मैं' कौन है? जैसे आप के 'मैं' की अपरिवर्तनशीलता की यह उपरोक्त सहज अनुभूति है, इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के 'मैं' की भी यह सहज अनुभूति है। अब रही भविष्यत्काल में इस 'मैं' के विद्यमान होने की बात, सो 'मैं' को 'मैं नहीं हूँ' की अनुभूति होना कदापि सम्भव ही नहीं है—यह पहले भी बताया जा चुका है। इसके अतिरिक्त, धार्मिक तथा शुद्ध अन्तःकरण से युक्त व्यक्तियों तथा योगियों द्वारा किन्हीं-किन्हीं बातों में सुदूर भविष्य का पूर्व-आभास हो जाना बिल्कुल वास्तविकता है और उनकी इस क्षमता पर निस्संदेह विश्वास किया जा सकता है। इन बातों का स्पष्टीकरण और कैसे किया जा सकता है बिना यह माने कि यह 'मैं' काल की उस कला में भी वर्तमान है, जिसे एक व्यक्ति भविष्य के रूप में परोक्ष रूप से प्रतीत करता है? क्या इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता है कि 'मैं' का अस्तित्व बिना किसी परिवर्तन के ही भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्काल में नित्य वर्तमान रहता है? अधिक उपयुक्त तो यह कहना होगा कि समस्त भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् का अस्तित्व इसी सच्चे 'मैं' से ही अथवा इसी सच्चे 'मैं' में ही है।

अतीन्द्रिय ज्ञान-गम्य घटनायें—जैसे दूरानुभूति (telepathy),

दूर-दर्शन-विद्या (clairvoyance), दूर-श्रवण-विद्या (clairaudience) आदि, जिन्हें अब आधुनिक मनोविज्ञान भी सत्य स्वीकार कर रहा है, सामान्य व्यावहारिक जीवन में भी घटित होती ही रहती हैं। क्या इससे वेदान्त के इस सत्य की पुष्टि नहीं होती कि समस्त देश और काल इस वास्तविक 'मैं' की दृष्टि में कुछ भी अस्तित्व नहीं रखते अथवा यदि उनका अस्तित्व है भी, तो भी, इस 'मैं' से भिन्न उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है? यह 'मैं' क्या है, जिसके सम्मुख समस्त देश और काल सिकुड़कर शून्याकार हो जाते हैं? ऊँचे उठिये और इस वास्तविक 'मैं' को जानिये। यह सर्वथा सत्य ही कहा गया है कि 'मैं' को जानना ही ईश्वरारोहण है।

संसार में ऐसे व्यक्ति, विशेषतः धार्मिक सज्जन दृष्टिगोचर होते हैं, जो संसार, शरीर और मन आदि को मिथ्या मान कर उनका निषेध करते रहते हैं। यह निषेध कैसे सम्भव होता यदि मनुष्य में शरीर, मन, बुद्धि तथा अहंकार के अतिरिक्त 'कोई अन्य सत्ता' न होती? (यह उन लोगों से पूछना चाहिये जो शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि से परे आत्मा की सत्ता को नहीं मानते।)

आधुनिक विज्ञान अब ऐसी स्थिति की ओर मुड़ रहा है, जहाँ वह यह स्वीकार करने लगा है कि प्रत्येक पदार्थ के पीछे एक पूर्ण शक्ति का भण्डार है। विकासवाद के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण भी अब यन्त्रवाद के आधार पर (on mechanical lines) पहले से कम किया जा रहा है और यह स्पष्टीकरण अब इस आधार पर अधिक किया जा रहा है कि प्रत्येक वस्तु के अन्दर पहले से ही सहज स्वतन्त्रता सदा-सर्वदा निहित होती है। आधुनिक मनोविज्ञान ने अब उस परम चेतन-सत्ता को प्रायः स्वीकार कर लिया है जो असीम है और व्यावहारिक व्यक्तिगत चेतनायें जिसके अपूर्ण

प्रतिबिम्ब मात्र हैं। जीव-विज्ञान और अन्यान्य विज्ञान भी किसी न किसी रूप में परमात्मा की सत्ता को परोक्ष रूप से स्वीकार करने लगे हैं।

परमात्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करने का कोई युक्तिसंगत कारण भी तो नहीं है। भगवान के न होने का प्रमाण ही क्या है? क्या आप परमात्मा के अस्तित्व को इसीलिए नहीं मानते कि वह दिखाई नहीं देता? तारागण भी तो दिन में दिखाई नहीं देते परन्तु इस कारण से ही उनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। दुःख-सुख आदि भी तो दिखाई नहीं देते। क्या आप उन समस्त वस्तुओं, स्थानों अथवा परिस्थितियों के अस्तित्व को, जिन्हें आपने देखा नहीं है, अस्वीकार कर सकते हैं? क्या हमें अपने बाबा (परपिता) का अस्तित्व इसीलिए अस्वीकार कर देना चाहिये क्योंकि हमने उन्हें देखा नहीं है अथवा देख नहीं सकते? हमारे पिता ही हमारे दादा के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण हैं। इसी प्रकार यदि हमें परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका अस्तित्व ही नहीं है। परमात्मा के अस्तित्त्व का सबसे बड़ा प्रमाण उनके भक्त अथवा सन्त हैं, जिन्होंने उसे देखा है और जिनके अन्दर वह निस्सन्देह विशेष रूप से प्रगट रहता है। अतः हमें उनके सद्वचनों पर श्रद्धा रखनी चाहिये और परमात्माा के साक्षात्कार का जो मार्ग वे बताएं उस पर सुदृढ़ता से चलना चाहिये। परमात्मा का अपरोक्ष अनुभव ही परमात्मा के न होने के संदेह का पूर्णरूपेण निवारण कर सकता है।

प्रमाण-गम्य हो अथवा प्रमाण-अगम्य, परमात्मा है। लोग पूछते हैं—"क्या परमात्मा का अस्तित्त्व है?" भगवत् दर्शन से कृतकृत्य हुआ महापुरुष प्रश्न-रूप उत्तर देता है—"परमात्मा के अतिरिक्त क्या और किसी वस्तु का भी अस्तित्व है?" सामान्य व्यक्ति पूछते हैं—"परमात्मा कहाँ है?"

भगवत् अनुकम्पा प्राप्त व्यक्ति उत्तर में कहता है—"परमात्मा कहाँ नहीं है?" हाँ, प्रिय आत्मबन्धु! परमात्मा अवश्य ही है। वह सदा आपके साथ है और आप में है—बल्कि यों कहिये कि आप ही उसमें हैं और आप का अस्तित्व उसी से है, केवल उसी से ही। वह कहीं दूरस्थ मेघों में स्थित नहीं है, जहाँ से वह रहस्यमय आदेश दे रहा हो और सृष्टि-क्रम चला रहा हो। सबके हृदय में विराजमान होकर, स्वयं गतिशील हुए बिना, वह अपनी स्वरूपभूत शक्ति के द्वारा सब को नियन्त्रित रूप से चला रहा है। वास्तव में वही है सकल ब्रह्मान्ड का 'अचल संचालक'!

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।" (गीता 18.61)

परमात्मा सबके अन्दर विद्यमान है और सब का अतिक्रमण भी करता है। 'सब कुछ' वही है। लेकिन वह केवल 'सब कुछ' ही नहीं है बल्कि 'सब कुछ' से परे भी है। वास्तव में उसकी सत्ता पर अविश्वास भी नहीं किया जा सकता। जो उसके अस्तित्व पर विश्वास नहीं करता, उसकी तुलना उस मछली से की जा सकती है, जो जल के अस्तित्व में विश्वास न करती हो, अथवा उस प्रतिबिम्ब से भी की जा सकती है जो अपने मूलभूत बिम्ब की सत्ता पर विश्वास न करे।

हाँ मित्र! परमात्मा आपके श्वास से भी, आप की सुषुम्ना से भी आप के अधिक समीप है। वह आपके प्राणों का भी प्राण, मन का भी मन, श्रोत्र का भी श्रोत्र तथा आपकी वाणी की भी वाणी है। केनोपनिषद् के शब्दों में—

"श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।"

(केनोप० 1.2)

परमात्मा वह परम कृपालु दिव्य परम पिता है जो आपको आपके सांसारिक पिता और माता से, भगिनी और भ्राता से तथा आप की पत्नी और आपके समस्त मित्रों से भी अधिक प्यार करता है। वास्तव में यह आप ही हैं जो ऐसे परम सुहृदय प्रभु से पराङ्मुख हो गये हैं। यह आप ही हैं, जो उस से विश्वासघात कर बैठे हैं। सचमुच यह आप ही हैं, जो इधर-उधर भटक रहे हैं, मानो छलपूर्वक उसके हाथों से निकल भागने का प्रयत्न कर रहे हैं।

यह आपकी धुंधली दृष्टि के कारण ही है कि परमात्मा आपको एक निराधार कल्पना मात्र अथवा अज्ञेय एवं अप्राप्य वस्तु के रूप में प्रतीत होता है। नेत्रहीन व्यक्ति को यदि सूर्य दिखाई न दे, अथवा किसी की दोषयुक्त दृष्टि होने के कारण जैसा सूर्य है वैसा उसे दिखाई न दे, तो क्या उसे सूर्य के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करना चाहिये? किसी की दृष्टि यदि सत्य तक पहुँचने में असमर्थ हो अथवा असफल रहे, तो क्या उसे असत्य का ही अनुकरण कर लेना चाहिये? क्या हमें विष का पान इस कारण से कर लेना चाहिये कि अमृत हमारी पहुँच से परे है? यदि ज्ञान की प्राप्ति हमारे लिए कठिन हो तो क्या हमें अज्ञान एवं अविद्या की दासता स्वीकार कर लेनी चाहिये तथा शारीरिक भोग-विलास में ही पूर्ण रूप से लिप्त हो जाना चाहिये? क्योंकि आनन्दस्वरूप परमात्मा की उपलब्धि के लिए संयम-नियम तथा कठिन अनुशासन की अपेक्षा है, क्या इसीलिए हमें माया रूपी शैतान की अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिये?

शास्त्रों ने भगवान को सत्य का भी सत्य कहा है—**"सत्यस्य सत्यम्।"** सच मानिये, परमात्मा अवश्यमेव है, और वह अत्यन्त सुन्दर, अत्यन्त मधुर तथा अत्यन्त कृपालु है। वह आप से निरन्तर वार्तालाप कर रहा है

परन्तु आपके प्राण-पुरुष के राग-द्वेष तथा लोलुपताओं ने, आपकी मानसिक कोलाहलमय विक्षिप्तता ने, आपकी बुद्धि के द्विधात्मक विकल्पों ने तथा आपके कठोर हृदय के अनियन्त्रित आवेगों ने आपको उसके सुमधुर दिव्य गीतों को सुनने से वञ्चित कर रखा है। यदि आपके पास दिव्य नेत्र होते तो आप तारागणों के झिलमिल प्रकाश में उसके दर्शन कर पाते! यदि आपके पास दिव्य श्रोत्र होते तो उस परमात्मा की प्रतीति आप अपने तथा दूसरों के हृदय की धड़कनों और नाड़ियों के स्फुरणों में कर पाते! यदि आप के पास भावभरा जीवंत हृदय होता तो आप परमात्मा को रजकण तक के अन्दर भी अनुभव कर पाते! तब आप परमानन्द स्वरूप परमात्मा के सर्वत्र दर्शन करके कृतकृत्य हो जाते और आनन्द-विभोर होकर कह उठते—**"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।"** अर्थात, पूरा जगत ब्रह्मरूप है।

हे प्रभो! आप प्रियतम की वात्सल्य भरी भुजाओं में और आप की परम सुखद कोमल गोदी में अपने आपको अनुभव करना कितना मधुर है!

भगवान सदैव आपके साथ हैं। भगवान करें, आप भी सदैव सचेत हो कर उनके साथ रहें तथा अपने अन्दर व बाहर सर्वत्र उनका अनुभव करें।

ॐ! ॐ!! ॐ!!!

भगवत्-प्राप्ति—सम्भव एवं अनिवार्य



भगवत्-प्राप्ति—सम्भव एवं अनिवार्य

पूर्ववर्ती पृष्ठों में कुछ संकेत इस हेतु दिये गये थे कि पाठकों के मन में परमात्मा के अस्तित्व के विषय में विश्वास जाग्रत हो अथवा इस हेतु से भी कि जिनको परम सौभाग्य से पहले ही परमात्मा की सत्ता में विश्वास हो, उनका विश्वास और भी अधिक सुदृढ़ हो। भगवत्-प्राप्ति के मार्ग में संलग्न साधक का भगवान के प्रति दृढ़ विश्वास होना बहुत ही कल्याणकारी है। यह साधक के मन को सबल बनाता है और उसे असफलता और निराशा की घड़ियों में भारमुक्त करता है। यह व्यक्ति को अत्यधिक विपरीत परिस्थितियों में भी सदैव आशायुक्त रखता है और मानसिक तनावों को शान्त करने में सहायता देता है। इससे व्यवहार में भी सुधार होता है। परमात्मा को परम स्नेही, परम पिता मान कर उसमें सुदृढ़ एवं अचल विश्वास करने से चरित्र में सुपरिवर्तन होता है तथा कुछ सीमा तक मानसिक चेतना का भी अवश्य रूपान्तरण होता है।

समस्त आध्यात्मिक साधना को संक्षेपतः मुख्य चार भागों में बाँटा जा सकता है—सम्यक् विश्वास, सम्यक् अनुसंधान, अनुभव तथा पूर्ण उपलब्धि। अन्त के तीनों अंग पहले अंग 'सम्यक् विश्वास' पर ही आधारित हैं। पहले विश्वास होगा, तब अनुसंधान किया जायेगा और सम्यक् अनुसंधान के द्वारा ही अनुभव एवं उपलब्धि होने का प्रसंग होगा। विश्वासहीन व्यक्ति न तो साधना ही करेगा और न ही उसे भगवान की प्राप्ति होगी। इसलिए

कठोपनिषद् में महान् गुरु यमराज उपदेश देते हुए सत्य के परम जिज्ञासु नचिकेता से कहते हैं—

"अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।।" (कठोप० 2.3.12)

भावार्थ यह है कि 'परमात्मा अवश्य है' इस प्रकार जो व्यक्ति स्वीकार करता है, अर्थात् जो भगवान के अस्तित्व को मानता है, केवल उसे ही परमात्मा मिल सकता है; उसके अतिरिक्त दूसरों को कैसे मिल सकता है? प्रभु की सत्ता पर विश्वास न करने वाले प्रभु-प्राप्ति के मार्ग के पथिक कैसे बन सकते हैं?

परन्तु,'परमात्मा है'—इतना विश्वास मात्र कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। उसके अस्तित्व में केवल विश्वास कर लेने मात्र से ही समस्त संशयों की निवृत्ति नहीं होती और न ही इतने मात्र से अविचलित एवं अचल आत्मस्थिति ही प्राप्त हो सकती है। परमात्मा के प्रति कोरा विश्वास इसलिए भी अपर्याप्त होता है कि वह केवल एक मानसिक धारणा (mental conviction) ही होता है। परमात्मा में सुदृढ़ विश्वास साधक में सच्चा आत्मविश्वास पैदा करता है जिसके बल पर वह परमात्मा के अस्तित्व के विरुद्ध तर्कों का खण्डन कर पाता है। किन्तु उसका सुदृढ़ विश्वास भी कुछ युक्तियों द्वारा अथवा अत्यंत विपरीत परिस्थितियों में डोल सकता है। सच्ची बात तो यह है कि परमात्मा की अपरोक्षानुभूति हुए बिना उस पर न तो हृदय को सुदृढ़ एवं स्थायी विश्वास ही होता है और न बुद्धि को अचल निश्चय ही। पूर्ण साक्षात्कार हुए बिना मानसिक विश्वास तथा निश्चय में किसी न किसी अंश में, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप में, संशय और विपर्यय बने ही रहते हैं। इसलिए भगवान अपने श्रीमुख से गीता के दूसरे अध्याय में कहते हैं—

"नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।" (गीता 2.66)

यहाँ 'युक्त' का अर्थ परमात्मा के साथ एकीभूत अथवा युक्त हुआ, अर्थात् परमात्मा की अपरोक्षानुभूति-प्राप्त साधक है; बुद्धि का अर्थ परमात्मा सम्बन्धी निश्चयात्मक बुद्धि तथा भावना का अर्थ सुदृढ़, अचल, आस्तिक भाव ही समझना चाहिये। तात्पर्य यह कि साधन परायण हो कर परमात्मा का अतिमानसिक साक्षात् अनुभव प्राप्त किये बिना न तो भगवान पर पूरा विश्वास ही होता है और न उन पर संशय-विपर्यय-रहित निश्चय ही।

आध्यात्मिक क्षेत्र में, अन्य विषयों की तरह, अन्तिम और पूर्ण निश्चयात्मक प्रमाण तो वास्तव में अपनी निजी अनुभूति पर आधारित अपना निर्णय होता है। इसलिए परमात्मा का साक्षात्कार अनिवार्य है और प्रत्येक व्यक्ति यह अवश्यमेव कर भी सकता है। इतना ही नहीं, सभी ऋषि, सन्त-महात्मा तथा समस्त आध्यात्मिक शास्त्र तो यह कहते हैं कि परमात्मा का साक्षात्कार इसी जीवन में, इसी प्राप्त मनुष्य शरीर के द्वारा, कर लेना बहुत ही आवश्यक है। केन उपनिषद् में कहा है—

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेद् इहावेदीन्महती विनष्टिः।"

(केनोप० 2.2.5)

"यदि इस मनुष्य-शरीर में परब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लिया, तब तो सब प्रकार से कुशल है; यदि इस शरीर के रहते-रहते उसे नहीं जान पाये तो महा विनाश है।" विनाश का अर्थ यहाँ 'महा हानि' है। वह हानि क्या और किस प्रकार की होगी?—इसको स्पष्ट करके कठोपनिषद् में पुनः कहा गया है—

"इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ।।" (कठोप० 2.3.4)

"यदि शरीर का पतन होने से पहले-पहले इस मनुष्य शरीर में साधक परमात्मा का साक्षात्कार कर सका तब तो ठीक है, नहीं तो फिर अनेक कल्पों तक नाना लोक और योनियों में शरीर धारण करने को विवश होता है।"

अतएव भगवत्-प्राप्ति अथवा भगवान का साक्षात्कार केवल सम्भव ही नहीं है, अपितु उसे इसी जीवन में निष्पन्न करना परम आवश्यक भी है। ऋषियों ने अपने-अपने जीवन की प्रयोगशालाओं में आध्यात्मिक प्रयोगों के द्वारा सिद्ध करके संसार के कल्याण हेतु यह घोषित किया है—"मित्रों! परमात्मा है, वह सभी जगह एवं सभी काल में है। हमने उसका साक्षात्कार किया है और आप भी अवश्य ही उसका साक्षात्कार कर सकते हैं!" याद रखिये, यह घोषणा सच्चे वैज्ञानिकों द्वारा प्रयोगशालाओं में प्राप्त निष्कर्षों की भाँति है, केवल आराम कुर्सी पर बैठने वाले किसी वैज्ञानिक की उक्ति की भाँति नहीं। इसलिए उठिये, और आज से ही प्रभु-प्राप्ति के प्रयत्न में लग जाइये।

सचमुच परमात्मा का अपरोक्षानुभव किया जा सकता है। उसकी पूर्ण उपलब्धि निस्संदेह सर्वथा सम्भव है। यही नहीं, वह एकमात्र परमात्मा ही है, जिसकी प्राप्ति निःसंदिग्ध एवं निश्चित रूप से की जा सकती है। संसार की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील एवं क्षणभंगुर हैं। उनको सदैव पकड़ कर नहीं रखा जा सकता। अतः उनकी प्राप्ति सच्ची 'प्राप्ति' कैसे हो सकती है? उन नाशवान् पदार्थों की प्राप्ति, जो आज सच्ची प्राप्ति के रूप में भासती है, किसी दिन अवश्य ही 'अ-प्राप्ति' के रूप में परिणत हो जाती

है। सच्ची प्राप्ति तो वही है जो सदैव प्राप्ति ही बनी रहे। भगवान एकरस रहने वाले एवं अचल हैं। उनकी प्राप्ति जब भी होगी, वह सदैव एवं सभी स्थानों में बनी रहेगी। अतएव यह कहा गया है कि वे एक मात्र परमात्मा ही है, जिनकी प्राप्ति सच्चे अर्थों में की जा सकती है।

इस पर आप 'नौ नकद न तेरह उधार' वाली उक्ति का सहारा लेकर तर्क कर सकते हैं और कह सकते हैं—"माना कि परमात्मा की प्राप्ति ही शाश्वत् होने के नाते सच्ची प्राप्ति है, परन्तु वह परमात्मा मिले भी तो! उसकी प्राप्ति सुगम नहीं। अतः थोड़े समय के लिए रहने वाली सांसारिक पदार्थ-परिस्थितियों की प्राप्ति ही श्रेष्ठ है।" परन्तु यहाँ भी आपको विवेकशील होना चाहिये। 'नौ नकद' प्राप्त करने के लिए भी परिश्रम करने और कष्ट सहने के बिना काम नहीं बनता, अर्थात् मनचाही सांसारिक वस्तुएँ भी सहज में ही नहीं मिल जातीं और यदि वे मिल भी जायें तो भी उनसे शाश्वत आनन्द एवं पूर्णता की प्राप्ति के लिए तड़पती हुई मनुष्य की अन्तरात्मा को सन्तोष तथा शान्ति नहीं मिल सकती। 'नौ नकद' भी अनंतकाल के लिए तो चलेंगे नहीं और उसकी प्राप्ति हेतु भी सदैव भाग-दौड़ बनी ही रहेगी तथा जीवन में विश्राम एवं शान्ति का मुख देखना भी असम्भव-सा ही रहेगा। सांसारिक अनित्य वस्तुओं के भोग से कामना की तृप्ति होना और शान्ति का मिलना कदापि सम्भव नहीं है—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा औष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।"

तथा

"यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मादति तृषां त्यजेत् ।।"

"कामनाओं को भोगकर उनको पूरा करने से मनुष्य की कामनायें कभी तृप्त नहीं होतीं। जैसे अग्नि में घृत डालने से वह अधिक भड़क उठती है, वैसे ही मनचाही सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त कर उन्हें भोगने से कामनायें बढ़ती ही हैं, कम नहीं होतीं।" यह भी कहा है कि संसार में जितना भी धन-धान्य है, वह सब यदि एक साथ एक ही व्यक्ति को प्राप्त हो जावे तो भी वह उसके लिए अपर्याप्त ही होता है। तृष्णा-देवी का उदर इतना विशाल है कि वह कभी भरता ही नहीं है। इसलिए 'नौ नकद' के चक्कर में न पड़कर सदैव प्रभु-प्राप्ति का ही प्रयत्न करना चाहिये।

और फिर, "भगवान नहीं मिलेंगे अथवा उनकी प्राप्ति सम्भव नहीं है", इस प्रकार का निराशामय दूषित विकल्प होना ही क्यों चाहिये? क्या आपको उस महान पैगम्बर (ईसा मसीह) के आश्वासन से भी ऊंचा प्रमाण चाहिये जो सभी के लिए घोषणा करते हैं—"खोजो और आप उसे पा लोगे" तथा, "दरवाजा खटखटाओ और वह आपके लिये खुल जायेगा"? जिन्होंने सच्चे हृदय से उसकी खोज की है उन्होंने उसे अवश्य पाया है—"जिन खोजा तिन पाया गहरे पानी पैठ।" भूतकाल में ऐसे सन्त अथवा भक्त पर्याप्त संख्या में प्रत्येक धर्म में हो गये हैं, जिन्होंने आत्म-साक्षात्कार किया, भगवान के साक्षात् दर्शन किये, और जो पूर्णत्व को प्राप्त हुए। वर्तमान में भी ऐसे सन्त-भक्त हैं ही, जिन्होंने परब्रह्म को पाया है और कृतकृत्य हो चुके हैं। ऐसे भगवत्-कृपा-प्राप्त महानुभाव संसार में प्रत्येक युग, प्रत्येक समाज तथा प्रत्येक देश में आध्यात्मिक विकास के दैवी कार्य को अग्रसर करने के लिए आविर्भूत होते ही रहते हैं।

प्रकृति के समस्त नियमों में निष्पक्षता (impartiality) है—प्रकृति का विधान सदैव व्यक्ति-निरपेक्ष हुआ करता है। यदि ईसा मसीह और चैतन्य

महाप्रभु ने किसी समय भगवान के दर्शन किये, तो आज भी आप उसके दर्शन कर सकते हैं, यदि हजरत मूसा को और सन्त रामदास को भगवज्ज्योति का साक्षात्कार हुआ, तो वैसा ही साक्षात्कार आपको क्यों नहीं हो सकता? सत्य में भेद-भाव नहीं होता—वह छोटे-बड़े सभी को समान रूप से उपलब्ध है। यदि सुकरात और शंकराचार्य ने किसी समय 'सत्य' का ज्ञान प्राप्त किया, तो आज भी आप उसी ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं! यदि गौतम बुद्ध और रमण महर्षि निर्वाण-पद को पा सकते हैं, तो आप वह पद क्यों नहीं पा सकते? यदि एक व्यक्ति किसी वस्तु को प्राप्त कर सकता है तो दूसरा व्यक्ति भी उस वस्तु को अवश्य ही प्राप्त कर सकता है यदि वह उस वस्तु का उचित मूल्य चुका देवे!

परब्रह्म विषयक कोरा बौद्धिक ज्ञान अधिक मूल्य नहीं रखता। अपरोक्षानुभूति परम आवश्यक है। भगवान के साक्षात् दर्शन कर लेना और उसे अपना बना लेना अनिवार्य है—इसलिए कि वह केवल परमात्मा ही है जो आपकी अन्तरात्मा की तृषा को शान्त कर सकता है। सच्चे सुख के लिए सांसारिक पदार्थों एवं बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर होना बड़ा भारी भ्रम है। अनित्य वस्तुओं से नित्य-शान्ति की आशा करना भूल नहीं तो और क्या है? परमात्मा की पूर्णता ही, वस्तुतः आत्मा की स्वरूपभूत अनन्तता को शाश्वत् शान्ति एवं विश्राम प्रदान कर सकती है,—कोई सांसारिक पदार्थ अथवा परिस्थिति ऐसा कदापि नहीं कर सकती। यह अभिप्राय श्रुति में पुनः-पुनः दर्शाया गया है। यथा—

"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।

"नित्यो नित्यानां चेतनाश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।"

(कठोप० 2-2-12,13)

तथा

"यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुखस्यान्तो भविष्यति ।।" (श्वेता० उ० 6,20)

अर्थ—"जो सब प्राणियों का अन्तर्यामी, अद्वितीय एवं सब को वश में रखने वाला परमात्मा अपने एक ही रूप को अनेक रूपों में प्रगट कर देता है, उस अपने अन्दर निवास करने वाले परमात्मा को जो धीर पुरुष निरन्तर देखते रहते हैं उनको ही सदा एकरस रहने वाला परमानन्द स्वरूप वास्तविक सुख मिलता है, दूसरों को नहीं। जो नित्यों का भी नित्य है, चेतनों का भी जो परम चेतन है और एक होते हुए भी जो अनेकों जीवों की कामनाओं को पूरा करता है, उस अपने अन्दर स्थित परमेश्वर को जो धीर पुरुष निरन्तर देखते रहते हैं, उनको ही शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं।" तथा, "जब मनुष्य आकाश को अपने ऊपर चर्म की तरह लपेट सकेगा, तब परमदेव पुरुषोत्तम को जाने बिना भी उसके दुःखों का नाश हो जायेगा—अर्थात्, जैसे मनुष्य के लिए आकाश को अपने शरीर पर चर्म की तरह लपेट लेना सर्वथा असम्भव है, इसी प्रकार परब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्य के दुःखों का नाश होना भी सर्वथा असम्भव ही है।"

अतएव पुनः-पुनः विवेक-विचार करके तथा शास्त्र एवं महानुभावों के वचनों पर विश्वास करके यह धारणा परिपक्व करनी चाहिये कि धन और

सम्पत्ति, पद और वैभव तथा नाम एवं प्रसिद्धि कभी पूर्ण एवं स्थायी शान्ति नहीं दे सकते, अतः परमात्मा की उपलब्धि अनिवार्य है।

परमात्मा की प्राप्ति करने में अधिकारी साधक को अधिक समय नहीं लगता। भगवत्-प्राप्ति में देरी भगवान की ओर से नहीं बल्कि आपकी ओर से ही होती है। आत्मानुभूति के लिए, अथवा भगवत्-प्राप्ति के लिए केवल पुस्तकें पढ़ने, वाद-विवाद में संलग्न होने, अनेकानेक साधनों और सिद्धान्तों का निरीक्षण करने, केवल भाषण सुनने अथवा दैनिक प्रार्थना के लिए कुछ मिनट दे देने अथवा भयजनित सदाचार अपनाने मात्र से ही काम नहीं बनेगा। तदर्थ आपको बहुत कुछ करना होगा। ड्राइंगरूम (drawing room) में बैठकर कभी-कभी एक-आध बार अध्यात्म अथवा वेदान्त के सम्बन्ध में मनोरंजन के लिए वार्तालाप कर लेने से कुछ विशेष पल्ले नहीं पड़ेगा। यदि सचमुच अध्यात्म का रसास्वादन करना है, यदि सचमुच भगवान की प्राप्ति का आनन्द लेना है, तो आध्यात्मिक जीवन सम्बन्धी अनेक नियमों एवं व्यवस्थाओं का पालन अवश्यमेव करना ही होगा, तथा उस महान पथ की कुछ शर्तों को अनिवार्य रूप से पूरा करना ही पड़ेगा।

प्रत्येक विज्ञान में अनुसंधान की अपनी-अपनी विधियाँ होती हैं। रसायनशास्त्री बनने के लिए बैठकर 'रसायनशास्त्र, रसायनशास्त्र' चिल्लाने मात्र से कोई लाभ नहीं होता। तदर्थ आपको किसी स्कूल अथवा कालेज में प्रवेश लेना होता है, कई वर्षों तक वहाँ अध्ययन करना होता है, तत्पश्चात् आपको प्रयोगशाला में परीक्षण करने के लिए जाना होता है। इस प्रकार कई वर्षों तक घर से दूर रह कर अपने आपको संसार की राजनीति से असंग रखते हुए, समस्त अनावश्यक सम्पर्कों से दूर रहकर पर्याप्त समय एवं धन व्यय करके तथा दिन-रात संलग्नता से परिश्रम करके ही आपको तद्विषयक डाक्टरेट (Doctorate) की उपाधि प्राप्ति होती है और

तभी आप रसायनशास्त्र के एक निपुण एवं दक्ष ज्ञाता माने जाते हैं (इतने पर भी आप की उस विषय की जानकारी पूरी नहीं मानी जा सकती)। यह बात भौतिक शास्त्र, मनोविज्ञान तथा ज्ञान के अन्य क्षेत्रों के बारे में भी सत्य है, तथा यही अध्यात्म के विषय में भी सत्य है। जब किसी एक साधारण विषय के ससीम ज्ञान की प्राप्ति के लिए इतने धन, समय, कठिन परिश्रम तथा इतने अधिक त्याग आदि की अपेक्षा होती है, तो फिर कितने अधिक त्याग आदि की आवश्यकता उस परब्रह्म के ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति के लिए होगी, जो अनन्त है और जिस को जान लेने के उपरान्त अन्य कुछ जानना शेष नहीं रहता!

"यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।" (गीता 7.2)

प्रत्येक उपलब्धि कुछ पूर्ववर्ती प्रबन्धों पर ही निर्भर करती है। जल लेने अथवा पीने में कुछ क्षण ही लगते हैं, परन्तु जलकूप खोदने में कई दिन लग जाते हैं। बल्ब जलाने में केवल एक सेकण्ड ही चाहिये परन्तु विद्युत-गृह से सम्पर्क (connection) प्राप्त करने में तथा अपने घर में बिजली लगवाने में पर्याप्त समय की अपेक्षा होती है। भोजन खाने में कुछ मिनट ही लगते हैं, परन्तु खाद्य सामग्री को कमाने-जुटाने के लिए काफी समय चाहिये। चिरन्तन सत्य की प्राप्ति के लिए कुछ समय तो लगेगा ही। विश्वासयुक्त तथा धैर्ययुक्त होकर सम्यक् साधना करना मत भूलिये।

प्रिय बन्धु! आइये, उठिये और साधना-कार्य में संलग्न हो जाइये। भगवान की प्राप्ति सम्भव है तथा परम अनिवार्य भी है। उसके लिए दत्तचित्त होकर यत्न कीजिये। सचमुच इसी में आपका भला है, आपकी जाति का भला है। आपके समाज एवं राष्ट्र का भला है तथा आपके देश का भला है। इतना ही नहीं, केवल इसी में समस्त विश्व का कल्याण है।

ॐ! ॐ!! ॐ!!!

आधारभूत योग्यतायें

आधारभूत योग्यतायें

परमात्मा अपने विशुद्ध एवं मौलिक स्वरूप को आप के अन्दर उस समय प्रगट करता है जब आप की चेतना देश-काल की सीमाओं को लाँघ जाती है। परन्तु परब्रह्म के दैवी द्वार तक पहुँचने के लिए आपका भी कुछ उन आध्यात्मिक एवं नैतिक सद्गुणों से सुसज्जित होना अति आवश्यक होता है, जिनके बिना कार्य नहीं चल सकता। इन सारभूत आवश्यकताओं में, जिनकी अनिवार्यता उस परम पवित्र आत्म-तीर्थ की यात्रा के लिए अपेक्षित है, सब से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—सत्य-हृदयता (sincerity), पवित्रता, आध्यात्मिक विवेक, वैराग्य, आत्म-निग्रह, निष्काम कर्म एवं सेवा, तत्त्व-चिन्तन,आत्म-समर्पण, अध्यवसाय (perseverance) तथा आध्यात्मिक-ध्यान। इन में से अन्तिम अर्थात् 'ध्यान' का विशद स्पष्टीकरण इस पुस्तक में आगे चलकर किया जायेगा। यहाँ पर उन में से शेष नौ पर क्रम-अनुसार थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

सत्य-हृदयता (Sincerity)

संसार में अधिकतर व्यक्ति आस्तिक ही हैं। वे किसी न किसी रूप में, किसी न किसी प्रकार से, भगवान के अस्तित्व को स्वीकार अवश्य करते हैं। कभी विपत्तियों से घिर जाने पर भगवान को आर्त्तभाव से पुकारना अथवा अन्य किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए परमात्मा को किसी समय याद कर लेना मात्र ही उनकी आस्तिकता का स्वरूप होता है।

इस आस्तिक वर्ग में कुछ ऐसे भी होते हैं जो विचार-चिन्तन करके यह समझ लेते हैं कि परमात्मा को पाना अत्यन्त आवश्यक है अथवा जो केवल पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण से अथवा संत-महात्माओं के संग के प्रभाव से प्रेरित होकर भगवत्-प्राप्ति की चाह रखते हैं। परन्तु इनमें से भी सभी के सभी प्रभु-प्राप्ति के लिए कोई निश्चित रूप से प्रयत्न करते हों—ऐसी बात नहीं है। कुछ विरले ही व्यक्ति परमात्मा का साक्षात्कार करने की आकांक्षा करते हैं तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हैं—

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये।"

ऐसे प्रयत्नशील जिज्ञासु भगवत्-प्राप्ति के उद्देश्य को लेकर अनेक उपाय करते हैं, धर्मोपदेश सुनने के लिए प्रतिदिन सत्संग करते हैं। वे मन्दिरों और मस्जिदों में जाते हैं, धर्म-ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हैं, दान-उपकार करते हैं। उनमें से कोई-कोई चित्त को अन्तर्मुख करने एवं ध्यान-अभ्यास के लिए भी बैठते हैं। परन्तु फिर भी उन्हें भगवान की प्राप्ति नहीं होती। वे अपने आध्यात्मिक साधना-कार्य में प्रगति नहीं कर पाते। उनके जीवन में कोई विशेष सुपरिवर्तन परिलक्षित नहीं होता। वे आज भी वैसे ही अविकसित, आचरण में उन्नति-रहित तथा भागवतीय ज्ञान-प्रकाश से कोरे के कोरे ही दिखाई देते हैं जैसे कि वे कुछ वर्ष पूर्व थे, जब उन्होंने अपनी साधना प्रारम्भ की थी। वे शान्ति प्राप्त नहीं कर पाते। ऐसा क्यों होता है? इसका मुख्य कारण यही होता है कि वे अपने साध्य-इष्ट के प्रति सत्य-हृदय (sincere) नहीं होते तथा न ही वे अपने उस साधना-कार्य में पूरी तरह गम्भीर बनते हैं, जिसे करने में वे संलग्न होते हैं। वे समस्त कार्य यन्त्रवत्, अगाढ़ता और रूढ़िवादिता से अथवा कोरी अनुकरणशीलता के आधार पर ही करते हैं। वे असफल अधिकतर इसलिए रहते हैं कि

उनमें सत्य-हृदयता की कमी होती है। कोई-कोई तो **"मैं बावरी खोजन चली, रही किनारे बैठ"**, की उक्ति के अनुसार प्रभु-प्राप्ति के परम लक्ष्य से च्युत होकर बीच में ही साधना छोड़ बैठते हैं अथवा निम्न स्तर की किसी उपलब्धि को ही ध्येय मान कर साधना करते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति भगवान को अथवा परम शान्ति को कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। गम्भीरता एवं पूरी सत्य-हृदयता के अभाव में भला क्या प्राप्त किया जा सकता है!

सत्य-हृदयता का तात्पर्य यहाँ पर आध्यात्मिक ईमानदारी से है, जो उन योग्यताओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसे परमात्मा की खोज में लगे हुए साधक को प्राप्त करना होता है। इस जीवन में आप क्या उपलब्ध करने की आकांक्षा रखते हैं? जगत् में आप किसके लिए अथवा किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जीते हैं? प्रत्येक साधक को प्रतिदिन अपने आप से यह प्रश्न करना चाहिये—"मैं किस के लिए जी रहा हूँ अथवा मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है?" क्या भगवत्-प्राप्ति ही आपके जीवन का एक मात्र ध्येय है अथवा वह (भगवत्-प्राप्ति) आपके अनेक आदर्शों में से केवल एक आदर्श है, जिन की सिद्धि आप इस जीवन में करने की आकांक्षा रखते हैं? आध्यात्मिक ईमानदारी आप से साग्रह अपेक्षा करती है कि आप परमात्मा की प्राप्ति को ही अपने जीवन का एक मात्र प्रयोजन तथा लक्ष्य निर्धारित करें। यह आप से इस बात की भी माँग करती है कि आप भगवान के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति रखें और उनके अतिरिक्त अथवा बिना भगवत्नाते, किसी पदार्थ-परिस्थिति-प्राणी के साथ अपना सम्बन्ध न मानें।

क्या परमात्मा के साक्षात्कार को आप सर्वतोधिक महत्त्व देते हैं अथवा सांसारिक उद्देश्यों की पूर्ति मात्र के लिए ही आप भगवान से प्रार्थना

तथा उसकी स्तुति करते हैं? प्रभु के प्रति सत्य-हृदयता आप से इस बात की याचना करती है कि आप को परमात्मा के निकट केवल उसके प्रेम एवं दर्शन के लिए ही जाना चाहिये, न कि नाम की प्रसिद्धि तथा वैभव आदि की प्राप्ति के लिए। सांसारिक पदार्थों एवं परिस्थितियों को भगवत्-प्राप्ति का साधन बनाना होता है, परमात्मा को सांसारिक पदार्थ-परिस्थितियों की उपलब्धि का साधन बनाना नहीं होता। भजन करके उसके बदले में भगवान से अपनी सांसारिक मनोकामनायें पूरी कराने के लिए जो व्यक्ति याचना करता है, वह भक्त नहीं, अपितु व्यापारी है। भक्त प्रहलाद के शब्दों में—

"यस्य आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।"

(श्रीमद्भागवत 7.10.4)

माना कि ईश्वर-प्राप्ति को ही आप सर्वोच्च महत्त्व देते हैं और यथार्थ में उसे अधिगत भी करना चाहते हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि आप उस दिशा में प्रयत्न क्या कर रहे हैं? क्या आप उन समस्त वस्तुओं तथा शक्तियों का, जो भगवान ने आपको प्रदान की हैं, अधिकतम सदुपयोग उसकी प्राप्ति हेतु कर रहे हैं? क्या आपकी सम्पत्ति का, आप के शरीर का, आपके सामाजिक बल का तथा आप की मानसिक एवं बौद्धिक शक्तियों का संशोधन और उचित उपयोग आप के द्वारा भगवत्-प्राप्ति के लिए हो रहा है? जी हाँ, इन्हीं सब बातों के द्वारा आपकी आध्यात्मिक ईमानदारी का निश्चय होता है।

यह एक सर्वसम्मत सत्य है कि मनुष्य एक कम मूल्य की वस्तु का परित्याग उस अन्य वस्तु के पक्ष में कर देता है, जो उसे अधिक मूल्यवान प्रतीत होती है। यदि ईश्वर-प्राप्ति के लिए आप से यह अपेक्षा की जावे कि आप अपनी सांसारिक वस्तुओं का तथा अपने प्रिय बन्धु-बान्धवों का

परित्याग कर दें, तो क्या आप ऐसा करने को तत्पर होंगे? कितना समय आप सांसारिक कार्यों की व्यवस्था में देते हैं और कितना समय आप अपने अन्दर प्रसुप्त अदृश्य दिव्य परम पुरुष को जाग्रत करने में लगाते हैं? भगवान के प्रति आपकी सत्य-हृदयता का यथार्थ में यही पैमाना अर्थात् मानदण्ड है।

सत्य-हृदयता आध्यात्मिक साधना का सबसे बड़ा रहस्य है। विश्वास कीजिये, यदि आप नब्बे प्रतिशत प्रभु के प्रति सत्य-हृदय बन जावें तो समझ लीजिये आप की आधी 'यात्रा' तय हो गई।

पवित्रता

यह जान लेने के पश्चात् कि आध्यात्मिक सत्य-हृदयता का क्या और कितना महत्त्व है, यह प्रश्न किया जा सकता है, "कोई व्यक्ति अध्यात्म के प्रति सत्य-हृदय किस प्रकार बन सकता है तथा उसे स्वयं में इस योग्यता के विकास के लिए क्या-क्या प्रयत्न करने चाहियें?" इसके उत्तर में इतना जान लीजिये कि यह आत्म-शुद्धि अथवा पवित्रता ही है, जो आध्यात्मिक सत्य-हृदयता को जन्म देती है तथा उसका पोषण करती है।

यहाँ पर यह बात बता देना आवश्यक है कि प्रायः जितने भी सद्गुण हैं उनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। उनका जीवन परस्पर सापेक्ष होता है। वे एक-दूसरे का आधार पाकर बढ़ते-पलते हैं। एक सद्गुण को दृढ़तापूर्वक अपना बना लेने पर अन्य सद्गुण अपने आप चले आते हैं और एक के भी शिथिल होने पर अन्य भी शिथिल होने लगते हैं। दोषों एवं दुर्गुणों में भी बिल्कुल इसी प्रकार का ही सम्बन्ध रहता है। एक दोष के दृढ़ होने पर अथवा एक सद्गुण के शिथिल होने पर अन्य सभी प्रकार

के दोष बिना बुलाये ही चले आते हैं। इस सम्बन्ध में महाकवि कालिदास का महाराजा भोज के साथ हुआ वार्त्तालाप यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा।

महाकवि कालिदास एक बार साधु का वेश धारण करके राजा भोज के पास भिक्षा माँगने गये। उनकी कन्था (गुदड़ी) जगह-जगह पर फटी हुई देख कर राजा ने उन से पूछा, "आप की यह कन्था कैसे फट गई?"

साधु—यह कन्था नहीं, यह तो जाल है। इससे मैं मछली पकड़ा करता हूँ।

राजा भोज—तो क्या तुम साधु लोग मछली भी खाते हो?

साधु—मैं मदिरा पीता हूँ, इसलिए उसके साथ मछली खाना आवश्यक प्रतीत होता है।

राजा भोज—परन्तु साधुओं के लिए मदिरा का सेवन तो सर्वथा निषिद्ध ही है।

साधु—प्रतिदिन तो नहीं पीता, परन्तु कभी-कभी वेश्या के संग में होता हूँ तो मदिरा पीनी पड़ जाती है।

राजा भोज—अरे! तो क्या तुम वेश्या का संग भी करते हो?

साधु—मुझे किसी का डर थोड़े ही है। मैं शत्रुओं के सिर पर पाँव रखकर बेधड़क हो कर चला जाता हूँ।

राजा भोज—तुम साधु हो, तुम्हारे शत्रु कैसे बन गये?

साधु—मैं जुआ खेलता हूँ। उसके लिए धन की काफी आवश्यकता पड़ती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए मैं चोरी भी करता हूँ। अतएव मेरे शत्रु भी बन ही जाते हैं।

राजा भोज—अरे! तुम्हारे अन्दर तो सभी प्रकार के दोष भरे हुए हैं।

इसके उत्तर में साधु-वेश-धारी कालिदासजी ने गम्भीर स्वर में कहा—"एक सद्गुण के नष्ट हो जाने पर धीरे-धीरे सभी सद्गुण चले जाते हैं और एक भी दुर्गुण जीवन में दृढ़ हो जाता है तो सभी दोष इकट्ठे हो जाते हैं।"

प्रभु के प्रति सत्य-हृदयता और पवित्रता का, सद्गुणों के पारिवारिक नाते से, परस्पर सम्बन्ध वास्तव में वर्तुलाकार (circular) एवं आदान-प्रदानात्मक (reciprocal) है। मानो वे परस्पर परिणीत हैं। जितना अधिक आप बाहर तथा अन्दर की पवित्रता लाभ करते हैं, उतना ही अधिक आप भगवान के प्रति सत्य-हृदय बनते जाते हैं। और भगवान के प्रति आपकी सत्य-हृदयता, बदले में, आपके आत्म-शुद्धिकरण के प्रयत्नों में अभिवृद्धि करती है। प्रभु के प्रति सत्य-हृदयता एवं पवित्रता को खो बैठने का स्पष्ट अर्थ होगा प्रभु को ही खो बैठना!

पवित्रता से क्या अभिप्राय है? क्या इसका अर्थ काम वासना सम्बन्धी पापों (conjugal sins) से दूर रहना है? क्या इसका अर्थ अपने शरीर अथवा घर-मकानों को साफ और स्वच्छ रखना मात्र है? क्या इसका अर्थ असत्य-वचन से और दूसरों की वंचना करने से अपने आप को रोकना है? हाँ, इसके ये सभी अर्थ हैं, परन्तु केवल इतना ही इसका अर्थ नहीं है। इसका वास्तविक अभिप्राय इससे कहीं अधिक है। पवित्रता का अर्थ है ईर्ष्या-द्वेष और दुष्प्रेरणाओं, अनियंत्रित तथा अनुचित आवेगों, दूषित विचारों तथा अव्यवस्थित उत्तेजनाओं (disordely passions) से पूर्ण मुक्ति। मन की सभी प्रकार की मलिनताओं— काम, क्रोध, मोह, आसक्ति और मिथ्या-प्रदर्शन आदि का पूर्ण रूप से परिष्कार करना होगा। प्राण पुरुष के राग, एवं द्वेष (जिन्हें वेदों में घोड़े का प्रतीक माना गया है

तथा भगवद् साक्षात्कार हेतु आत्म-शुद्धि के लिये किये जाने वाले यज्ञ में जिसकी बलि दी जानी होती है), भ्रष्टाचार, स्व-प्रशंसा, प्रतिस्पर्धा और साथ ही सब से अधिक दुस्तर मिथ्या क्षुद्र अहं—जो इन सब की जननी है—को सर्वथा निर्मूल करना होगा। इन पतनकारी विकारों की छाया भी जब तक अन्तःकरण में है, तब तक भगवान को इसी जीवन में अधिगत करना तथा जीवन-मुक्ति का आनन्द लेना सम्भव नहीं है, भले ही बुद्धि-मनन-चिन्तन द्वारा कितनी भी अधिक चतुर तथा सिद्धान्त-प्रवीण क्यों न बन जावे। इसलिए यमराज कठोपनिषद् में नचिकेता से कहते हैं—

"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।" (कठोप० 1.2.24)

सकारात्मक पक्ष को लें तो पवित्रता का अभिप्राय मितव्ययता (frugality), अहिंसा, नम्रता, निःस्वार्थ प्रेम, क्षमा, सन्तोष और सरलता जैसे मुख्य सद्गुणों के विकास से है, जो आध्यात्मिक दिव्य जीवन के महान् उद्घाटन की ओर ले जाते हैं। दैनिक व्यवहार में, जो अवश्य ही न्याय और निष्पक्षता पर आधारित होना चाहिये, ईमानदारी भी पवित्रता के अन्तर्गत ही आती है। पवित्रता हमारे व्यक्तित्व के सभी अंगों—शरीर, प्राण, मन, बुद्धि तथा अहंकार के संशोधन की तथा बाह्य व्यवहार के पूरे संशोधन की भी माँग करती है।

किस प्रकार और किन-किन रीतियों एवं साधनों के द्वारा यह सर्वांगीण आध्यात्मिक पवित्रता पूर्ण रूप से साधी जा सकती है? क्या इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पवित्र तीर्थ स्थानों की यात्रा और वहाँ के पवित्र स्नान-दर्शन करना अथवा गरीबों के लिए धर्मार्थ भोजनालय खोलना, धर्म ग्रन्थों का स्वाध्याय करना अथवा कठोर शारीरिक तपस्या करना पर्याप्त

है? ये पुनीत कार्य अवश्यमेव कुछ सीमा तक श्रेयस्कर हैं, यदि वे कोरी रूढ़िवादिता से नहीं बल्कि बलिदान की भावना से प्रेरित होकर श्रद्धापूर्वक किये जावें।

जहाँ तक पवित्रता रूपी सद्‌गुण का विकास करने के लिए कठोर शारीरिक तपस्याओं की उपयोगिता एवं क्षमता का सम्बन्ध है, यह बात ध्यान में रहे कि घोर शारीरिक यातनाओं जैसे अत्यधिक उपवासों और आत्यन्तिक भीषण शारीरिक तपों का आश्रय लेना अवाञ्छनीय ही है। मन को शुद्ध करने के बजाय वे व्यक्ति के अभिमान में वृद्धि करके मिथ्या अहं को बढ़ावा देने वाले हो सकते हैं। वे इससे भी अधिक हानिप्रद सिद्ध हो सकते हैं, यहाँ तक कि पूरा आत्म-पतन भी असम्भव नहीं है। अधिक च, भीषण तपों में अति करने से भौतिक-चेतना तथा प्राण-पुरुष के द्वारा अन्दर से तीव्र प्रतिक्रिया तथा विद्रोह किये जाने के भय की सम्भावना होती है। यह अन्दर की प्रतिक्रिया एवं विद्रोह इतने अनियन्त्रणीय (uncontroll-able) बन सकते हैं कि वे समस्त साधना को ही अस्त-व्यस्त कर सकते हैं तथा आध्यात्मिक विपत्ति के वाहक बन सकते हैं। इस सम्बन्ध में ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है, जहाँ कुछ साधकों ने ऐसे भीषण उपायों का प्रयोग मानो ईश्वर को विवश करने, अथवा यों कहिये कि भगवान को बलपूर्वक जीतने के लिए किया तथा कठोर तपस्या-युक्त अनेक वर्षों की लम्बी अवधि के उपरान्त वे या तो अपने लिए और समाज के लिए अयोग्य (invalid) बन गये अथवा मुड़कर फिर ऐसा सांसारिक भोगविलासपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे, जिस से एक सर्व-साधारण साधक भी मुख मोड़ना चाहेगा।

आत्म-शुद्धि अथवा पवित्रता-प्राप्ति के सबसे अधिक अचूक एवं

प्रभावकारी साधन हैं—पदार्थों के गुण-कर्म-विभाग का सम्यक् ज्ञान, पवित्रता-प्राप्ति हेतु दैवी अनुकम्पा एवं भागवतीय सहायता के लिए निरन्तर प्रार्थना, भगवत्स्मरण तथा आध्यात्मिक विवेक!

विवेक (Spiritual Discrimination)

आज का मानव क्षिप्रता से एवं अन्धवत् भागा जा रहा है। उसको यह ज्ञात नहीं कि जीवन कहाँ से आया है और उसका पर्यवसान कहाँ होना है। वह बस दौड़े ही जाता है। कभी-कभी वह ठोकर खाता, गिर पड़ता, उठ जाता और पुनः दौड़ने लगता है, परन्तु उसे कहाँ जाना है और यह सब दौड़-धूप किस लिए है—यह वह नहीं जानता। वह इस विषय में विचार भी नहीं करना चाहता। यह अस्वस्थ भाव-भंगिमा है। यह सचमुच मनुष्य के भयंकर पतन का चिह्न है। विकासोन्मुख हो पशु निम्नयोनियों से उच्च योनियों को प्राप्त हो रहे हैं, परन्तु खेद है! आज का मानव विवेकहीनता एवं अज्ञानमूलक अन्धानुकरणों के द्वारा उच्च योनि से निम्न योनियों की ओर जाने वाले मार्ग पर चल रहा है।

पशुओं की अपेक्षा मनुष्य उच्च श्रेणी का जीव माना जाता है, क्यों कि उसके अन्दर बुद्धि का आविर्भाव हुआ है। वह वस्तुओं का निरीक्षण करता है, मूल्यांकन करता है, मन के द्वारा वरण करता है तथा कार्य-संलग्न हो जाता है—आरम्भ में अवचेतन मन के द्वारा, और सचेतन मन के द्वारा उस समय, जब वयस्क हो जाता है। यह सब वह मानसिक क्रिया के आधार पर ही करता है। पशु भी निरीक्षण करता है, मूल्यांकन करता है, छाँट करता अथवा चुनता है तथा कार्यरत हो जाता है, परन्तु वह यह सब कुछ इन्द्रिय-जन्य सहज ज्ञान के आधार पर ही करता है। मानसिक चेतना

के अर्ध प्रकाशयुक्त विवेक तथा मन के सहज ज्ञान की सीमाओं को पार कर जाने वाला अतिमानव (superman) यह सभी कार्य अतिमानसिक सहज ज्ञान के द्वारा अतिमानसिक सहज क्रिया के रूप में संपादित करता है।

यहां एक बात अच्छी तरह समझ लेने की यह है कि चेतना की सहजता अर्थात चेतना के स्वरूपभूत आनन्द, ज्ञान एवं शक्ति की सहजता तो जगत रूपी अभिव्यक्ति के प्रत्येक तल में सदा विद्यमान रहती है हालांकि यह भिन्न-भिन्न प्रकार से आवरण द्वारा ढकी रहती है। किन्तु अभिव्यक्ति के निचले परार्ध में, जो कि अविधा का परार्ध है और जिसमें त्रिगुणात्मक प्रकृति की प्रधानता रहती है, चेतना की स्वरूपभूत शक्तियों के प्राकट्य/उद्घाटन में न्यूनाधिकता होती है। यह न्यूनाधिकता प्रकृति के गुणों के अनुपात में भिन्नता के कारण अविद्या के आवरण की मोटाई पर निर्भर करती है। इन्द्रिय-चेतना में अपने ही प्रकार की सहज शक्ति, सहज ज्ञान एवं सहज आनन्द की उपलब्धि होती है और मानसिक चेतना में दूसरे प्रकार की। पशु पूर्णतः इन्द्रिय-प्रधान प्राणी है और मनुष्य मूलतः मनोमय प्राणी है। मनुष्य के अन्दर चेतना का प्रकाश पहले विवेक के रूप में और फिर अभिमानस में जाकर आंशिक रूप से मानसिक सहज ज्ञान के रूप में उपलब्ध होता है। पशु को किसी अतीन्द्रिय तत्त्व का बोध कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। मनुष्य को मानसिक विवेक के द्वारा अतीन्द्रिय तत्त्वों, शक्तियों और प्राणियों का आभास मिलता है और अभिमानसिक चेतना की स्थिति में वह आंशिक रूप में उनका अपरोक्ष अनुभव कर सकता है। अतिमानसिक चेतना की स्थिति तो वस्तुतः मानसिक पकड़ से परे है।

इस अतिमानसिक स्थिति में पहुंचने पर भ्रान्त व प्रमादी मन द्वारा

सृजित एवं हम पर थोपी गयी सभी प्रतीयमान सीमाओं तथा भेदों का बाध हो जाता है—यहां तक कि ज्ञान एवं क्रिया में भी भेद नहीं रहता। इसके अतिरिक्त चेतना की इस सर्वोच्च भूमिका से संपादित की गयी क्रियाओं का आधार मानसिक विवेक नहीं होता जो हमेशा द्वंद्वमूलक होता है तथा सत्य-असत्य के बीच भेद की अवधारणा के आधार पर कार्य करता है। विवेक करने के लिये तो अतिमानसिक चेतना में प्रतिष्ठित अतिमानव को बहुत नीचे उतरना पड़ता है। तात्पर्य यहां इतना ही कहना है कि ऐन्द्रिक सहज ज्ञान (senses' intuition) तथा मानसिक सहज ज्ञान (mental intuition) में महान् अन्तर है। और अतिमानसिक सहज ज्ञान (supramental intuition) तो इन दोनों से निश्चय ही सर्वथा विलक्षण है। चेतना के अतिमानसिक भाव में प्रतिष्ठित अथवा उसके संस्पर्श को प्राप्त अतिमानव के सभी कार्य परा-प्राकृतिक व दिव्य होते हैं, तथा साथ ही प्रकृति के गुणों के परस्पर तथा अनवरत संघात के फलस्वरूप होने वाले कार्यों/कर्मों से कहीं उत्कृष्ट होते हैं। इस अवस्था में भगवान की सर्वांगी स्वतन्त्रता का परा-प्रकृति द्वारा चिन्मय विमर्श प्रगट रहता है। किन्तु इस स्थिति को निर्गुण स्थिति अथवा चिद्घन स्थिति नहीं समझ लेना चाहिए।

पशु पूर्णरूप से प्रकृति द्वारा शासित होता है; मनुष्य को विवेक द्वारा वरण करने अथवा चुनने की पूरी स्वतन्त्रता और कर्म करने की आंशिक स्वतन्त्रता भगवान की ओर से दी गई है। अतिमानव पूर्ण स्वतंत्रता का भोक्ता होता है और पूर्ण आत्म-स्वामित्व को प्राप्त होता है। अपना यह नैसर्गिक मनुष्यत्व प्राप्त करने के लिए मानव को विवेकशील होना चाहिये। विवेक के बिना तो मनुष्य वस्तुतः पशु-मात्र ही है—**"विवेकहीन नर पशु समाना।"** इस विषय में एक प्रसंग स्मरण हो रहा है। ललेश्वरी नाम की

एक ब्रह्मभूता तपस्विनी, पूर्ण आध्यात्मिक अनुभव की चोटी पर पहुँची हुई स्त्री, काश्मीर में आज से कोई पाँच सौ वर्ष पूर्व हो गई है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उसमें समान रूप से श्रद्धा रखते थे। वह थी तो निरक्षर, परन्तु आत्म-बोध होने के पश्चात् जो कुछ भी उसकी वाणी से सहजभाव से निकला, वह कश्मीरी भाषा में कविता के रूप में ही निकला। उसके दिव्य उद्गार लोगों के हृदय ही नहीं, सीधे आत्मा में उतर जाते थे। गम्भीरातिगम्भीर आध्यात्मिक रहस्यों से पूर्ण उसकी वाणी है। इससे ऐसे संकेत मिलते हैं कि ललेश्वरी ने योग-साधना द्वारा इस महान् अनुभव की पदवी को उपलब्ध किया था तथा उसे योग की महान् विभूतियाँ अर्थात् सिद्धियाँ भी प्राप्त थीं। श्रीनगर से कुछ दूर एक गाँव में अपनी ससुराल में वह रहा करती थी। वहाँ उसी गाँव में उसके मुहल्ले में ही वर्ष में एक बार एक मेला लगा करता था, जिसमें दूर-दूर के गाँवों के बहुत लोग एकत्र हुआ करते थे। एक बार ऐसा ही मेला लगा हुआ था। ललेश्वरी भी मुहल्ले की कुछ स्त्रियों के आग्रह पर मेले में जाने को तैयार हुई। कोई दूर तो जाना था नहीं। मेले का स्थान वहीं से दीख रहा था, जहाँ बहुत सारे मनुष्य एकत्रित थे। परन्तु ललेश्वरी के श्वसुर ने यह कह कर कि "वहाँ इतने अपरिचित पुरुषों के बीच में जाना तुम स्त्रियों को क्या शोभा देता है?", उसे मेले में जाने से मना किया। इस पर ललेश्वरी हँसी और कहने लगी "वहाँ मनुष्य तो कोई है ही नहीं, आप खिड़की से बाहर मेले के स्थान की ओर देखिये तो सही।" उसके श्वसुर ने जब खिड़की से बाहर मेले के स्थान की ओर देखा तो सचमुच उसे वहाँ शृगालों, श्वानों, खरों तथा शूकरों आदि का एक बड़ा समूह दिखाई पड़ा—मनुष्य तो कोई वहाँ दिखाई ही नहीं दिया। यह देख वह बड़ा चकित एवं विस्मित हुआ। तब ललेश्वरी

ने बड़ी गम्भीर मुद्रा में अपने श्वसुर से यों कहा था—"मनुष्य वास्तव में वही है, जिसमें विवेक है। जो सत्य-असत्य, भले-बुरे और उचित-अनुचित का विचार करके असत्य को छोड़ने और सत्य पर चलने का नित्य प्रयास करता रहता है। मनुष्य वह है जो नित्य-अनित्य के विवेक से युक्त होकर और सांसारिक पदार्थ-परिस्थितियों के प्रति वैराग्यशील होकर भगवान की प्राप्ति के लिए निरन्तर साधन-भजन करता है। जो व्यक्ति विवेकशील न होकर जैसे-तैसे इस दुर्लभ मानव जीवन को व्यतीत करता है, वह वस्तुतः पशु के ही समान है।" इसी अभिप्राय को सद्शास्त्रकार भी कहते हैं। यथा—

"खादते मोदते नित्यं शुनिकः शूकरः खरः ।
तेषामेषां को विशेषो वृत्तिरेषां च तादृशी ।।"

"कुत्ते, सूअर, गधे आदि प्राणी भी नित्य खाते-पीते, खेलते एवं प्रमोद करते ही हैं। मनुष्य भी यदि इन्हीं वृत्तियों में जीवन बिता दे तो फिर मनुष्यों और पशुओं में अन्तर ही क्या रहा? अतएव विवेक से परिभूषित व्यक्ति को ही मानव कहलाने का अधिकार है।"

विवेक शब्द अनेक अर्थों को सूचित करता है। वेदान्त की भाषा में इस का सामान्य अर्थ सत्य और मिथ्या का निर्णय करना माना जाता है।

सत्य क्या है और मिथ्या क्या है? उनका एक-दूसरे से अन्तर कैसे जाना जा सकता है? इस प्रकार का निर्णय करना शायद सरल है, परन्तु जीवन में उसे उतारना तथा व्यवहार में उस निश्चय को क्रियात्मक रूप देना कठिन है। सिद्धान्त तो सरल है—मिथ्या वह है जिसका किसी एक काल में अस्तित्व हो और किसी दूसरे काल में अस्तित्व न हो। प्रत्येक वस्तु जो ह्रास तथा विनाश को प्राप्त होती है, मिथ्या है। अतः समस्त अनित्य वस्तुएँ,

अनित्य घटनायें तथा अनित्य परिस्थितियाँ 'मिथ्या' की श्रेणी में आती हैं।

पुनः प्रत्येक वस्तु जो ससीम है, शीघ्र ही अथवा कालान्तर में क्षय को प्राप्त होगी और उसका विनाश होना अनिवार्य है। अतएव सत्य, 'सत्य' होने के लिए, वह होना चाहिये जो असीम हो। दूसरे शब्दों में 'सत्य' वह है, जो देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न हो, जो शाश्वत सत्ता रखता हो।

स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण नामरूपात्मक समस्त जगत् मिथ्या है और केवल परमात्मा, ब्रह्म अथवा आत्मा ही सत्य है—ऐसे निश्चय को वेदान्त-दर्शन शास्त्रकारों ने 'विवेक' की परिभाषा दी है—

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवं रूपो विनिश्चयः।
सोऽयं नित्यानित्य वस्तु विवेकः समुदाहृत।।"

यहाँ पर ध्यानपूर्वक यह भी समझ लेना चाहिये कि 'मिथ्या' का अर्थ अवश्यमेव 'इन्द्रजाल' अथवा किसी व्यक्ति विशेष की रचना नहीं है। इसका अभिप्राय केवल पदार्थ-परिस्थितियों के अस्थायित्व, परिवर्तनशीलता तथा अस्थिरता रूपी भावों को ही प्रतिलक्षित करना है।

अच्छे और बुरे, आवश्यक और अनावश्यक तथा साध्य और साधन के अन्तर को पहचानना भी विवेक शब्द के अन्तर्गत है। इस प्रकार विवेक से तात्पर्य है एक गम्भीर पैनी दृष्टि, न कि कोरा बाह्य चिन्तन मात्र।

अच्छा क्या है? और, बुरा क्या है?—इसका तर्क द्वारा परीक्षण करना यहाँ उपयुक्त न होगा। इस सम्बन्ध में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार वह सब कुछ 'अच्छे' की श्रेणी में आता है, जो आत्म-उद्घाटन तथा आत्म-विकास की प्रक्रियाओं में सहायक होता है, और वह सब कुछ जो इन पुनीत प्रक्रियाओं में बाधा

डालता है 'बुरा' है। क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित है? व्यवहार की कौन सी प्रणाली श्रेष्ठ है, कौन सी श्रेष्ठतर है और कौन सी श्रेष्ठतम है, जिसका अनुकरण एक व्यक्ति विशेष के द्वारा किया जाना चाहिये?—यह सभी कुछ दर्शाने तथा निर्णय करने का कार्य भी विवेक का ही है।

सम्यक् विवेक केवल मानसिक विचार (speculation) पर ही आधारित नहीं होता बल्कि पदार्थ-परिस्थितियों के ज्ञान और अनुभव पर भी आधारित होता है। यह शुष्क बौद्धिक क्षमता मात्र से कहीं अधिक प्रयोजनकारी होता है, क्योंकि इसका अभिप्राय वस्तुओं, प्राणियों एवं परिस्थितियों के स्वरूप के विषय में एक गम्भीर अन्तर्दृष्टि से होता है। विवेकशील व्यक्ति प्रत्येक वस्तु अथवा घटना को दैवी योजना में सम्यक् महत्त्व, सम्यक् मूल्य तथा सम्यक् स्थान ही देगा। गम्भीर विवेक के द्वारा व्यक्ति में ऐसी क्षमता स्वाभाविक रूप से आ जाती है कि वह संयोग-काल में भावी वियोग को और जीवन-काल में भावी मृत्यु को नहीं भूलता। विवेक के प्रकाश में वह अपने जीवन को पर्याप्त सुखी और शान्त बना लेता है।

नित्य और अनित्य का विवेक तथा श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम के बीच विवेक जब परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो निश्चित रूप से वह व्यक्ति को उस परमार्थ के प्रति, जो अचल एवं शाश्वत है, एकाग्रता की ओर ले जाता है और सांसारिक क्षणभंगुर पदार्थ-परिस्थितियों के प्रति वैराग्य की ओर!

वैराग्य (Dispassion)

वर्तमान युग को बिना किसी संकोच के विकृतियों और पथ-भ्रष्टताओं का युग कहा जा सकता है। सर्वत्र अव्यवस्था एवं सम्भ्रम की स्थिति

दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों जैसे—संचार के नवीनतम साधनों—दूरदर्शन, रेडियो, समाचार पत्र तथा सिनेमा आदि ने विश्व को एक शान्त स्थान बनाने में अपना योगदान देने की जगह हमें विनाश के कगार पर ला खड़ा किया है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि सिनेमा हमारे युवा वर्ग के साथ कैसा भीषण खिलवाड़ कर रहा है। सिनेमा द्वारा दिग्भ्रमित युवाओं के विरुद्ध विद्यालयों में अध्यापक तथा घरों में माता-पिता, एक हारी हुई सी लड़ाई लड़ रहे हैं। यह सत्य है कि सिनेमा समाज में शिक्षा प्रदान करने का कार्य भी कर सकता है। किन्तु प्रश्न है कि क्या अब तक उसने ऐसा किया है? समाचार-पत्र झूठ और वैमनस्य फैलाने का शक्तिशाली व भयंकर साधन बन गया है। समाचार-पत्रों की विशाल शक्ति के आगे सर्वत्र एवं प्रतिदिन ही सत्य, सरलता व ईमानदारी की बलि चढ़ती रहती है। चहुंओर उच्च नैतिक स्तर तथा मूल्यों में गिरावट देखने में आती है। सुसभ्य पड़ोसी का व्यवहार, मानवीय व शिष्ट व्यवहार, आदर्श सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवहार, यहां तक कि आदर्श शैक्षिक व्यवहार भी कम होता जा रहा है। प्रत्येक व्यक्ति को 'गुजरे हुए अच्छे जमाने' की याद करते देखा जा सकता है। दुनियां के कुछ ऐसे क्षेत्र, जिन्हें आधुनिकता की भाषा में 'पिछड़ा क्षेत्र' कहा जाता था, संचार के आधुनिक साधनों के वहां पहुँचने से पहले, केवल कुछ दशक पूर्व तक, ऐसे स्थान थे, जहाँ सरलता, निर्दोषता तथा खुशी का बोलबाला था। लेकिन आज आप इन स्थानों पर जा कर देखें तो पायेंगे कि वहां मानवीय करुणा का दूध सूख गया है तथा खुशी वहाँ के जीवन से विदा हो गयी है। आज वैराग्य का सबसे वड़ा शत्रु, कामना-इच्छा अपनी पूर्ण युवावस्था में हैं। लोग धन-सम्पत्ति के पीछे इतने पागल हो गये हैं कि वे अपना

धर्म-कर्म अपना चरित्र तथा अपनी स्वतन्त्रता तक चांदी के कुछ ही टुकड़ों के बदले बेचने को तैयार हैं। अनेक लोगों ने तो वैराग्य को एक ऐसे दुर्बल मन का लक्षण मानना आरम्भ कर दिया है जो संसार के प्रहारों का सामना करने में अक्षम हैं।

ऐसी वर्तमान परिस्थितियों में वैराग्य के सम्बन्ध में कुछ कहना शायद व्यर्थ की चर्चा ही प्रतीत हो, परन्तु इस विषय में संक्षिप्त वर्णन की यहाँ उपेक्षा नहीं की जा सकती—प्रथम तो इस कारण से कि आत्म-उद्बोधन एवं मोक्ष तथा पूर्णत्व की उपलब्धि के लिए यह (वैराग्य) अनिवार्य है और दूसरे इसलिए भी, कि इस के विषय में अनेक मिथ्या धारणायें प्रचलित हो गई हैं।

अंग्रेजी के dispassion शब्द के लिए संस्कृत भाषा का 'वैराग्य' शब्द पर्यायवाची है, जिसका स्पष्ट एवं सीधा अर्थ है 'राग का अभाव'—

"विगतः रागः यस्मात् व विरागः।
विरागस्य भावः वैराग्यम्।।"

अर्थात् जिसका राग निवृत्त हो जाय वह विराग, और विराग की भाववाचक संज्ञा होकर वैराग्य बना।

अपने शुद्धतम अर्थों में वैराग्य का अर्थ मन की उस अवस्था से है जिसमें उसका जगत के प्रति राग का सर्वथा अभाव हो जाता है। आसक्ति मन में होती है, अतएव आसक्ति का त्याग अर्थात् वैराग्य भी मन से ही होता है। किसी बाह्य परिस्थिति अथवा किन्हीं वस्तुओं का विद्यमान न होना मात्र वैराग्य का सच्चा लक्षण नहीं है। जीवन में कुछ पदार्थों के अभाव मात्र को ही पद-पदार्थों के प्रति वैराग्य से दिग्भ्रमित नहीं किया जाना चाहिये। सम्भव है कि किसी व्यक्ति के पास कुछ भी धन-सम्पत्ति न हो लेकिन वह

उसकी प्राप्ति की इच्छा से अन्दर ही अन्दर जला जा रहा हो। स्वेच्छा से वरण की गई निर्धनता तथा किसी मजबूरी के कारण प्राप्त हुई निर्धनता में महान् अन्तर है। बाह्य रूप-रेखा, रहन-सहन के बाह्य ढंग अथवा जीवन के बाह्य रूप की अपेक्षा वैराग्य सचमुच मन की वह आन्तरिक अवस्था है जिस में चेतना का सांसारिक पदार्थ-परिस्थितियों के साथ रहस्यमय सहकार-सम्बन्ध (mystic participation) धीरे-धीरे मिटता जाता है।

राग अर्थात् आसक्ति के भी कई रूप हो सकते हैं। धन-सम्पत्ति, शरीर, बन्धु-बान्धवों, मित्रों, भक्तों अथवा अपनी प्रशंसा करने वालों के प्रति यह आसक्ति हो सकती है। यह आसक्ति अपनी जाति और अपने मत वालों के प्रति तथा अपने बौद्धिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक दृढ़ विश्वासों के प्रति भी हो सकती है। वैराग्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं—

"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार-संज्ञा वैराग्यम्।"

(योग दर्शन 1.15)

अर्थात् जो देखे गये हैं अथवा जिनके प्रति सुन रखा है, लोक-परलोक के ऐसे समस्त विषयों में तृष्णा के भाव से रहित जो चित्त की वशीकार अवस्था है, उस का नाम वैराग्य है।

संसार में प्रायः तीन प्रकार के पदार्थ ही हैं, जो व्यक्ति के मन को लुभाते, मोहित करते और चलायमान करते हैं। ये हैं—धन-सम्पति, नाम-प्रसिद्धि तथा काम-वासना। प्रलोभन का एक और कारण भी हो सकता है, और वह होता है स्वर्ग का आकर्षण। स्वर्ग-प्राप्ति की तृष्णा वास्तव में विषय-सुखों को अधिकतर मात्रा में और दीर्घतर काल के लिए भोगने की इच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि यह माना जाता

है कि स्वर्ग के सूक्ष्म भोग-पदार्थ अधिकतर विषय-सुख देने वाले होते हैं। ये सभी प्रलोभन विघ्न-बाधायें हैं, जिन पर विजय प्राप्त करना अथवा जिनका अतिक्रमण करना आध्यात्मिक पूर्णत्व के उच्चतम शिखर पर पहुँचने के लिए परमावश्यक है। इन सब में लोकैषणा को जीतना सबसे कठिन माना जाता है। कहा भी है—

"कंचन तजना सहज है सहज त्रिया का नेह
मान बड़ाई ईर्ष्या दुर्लभ तजना एह।"

'जीते जी हमारा नाम हो जाये'—इतनी मात्र तृष्णा की तो बात ही क्या, मरने के पश्चात् भी हमारा नाम बना रहे, इसके लिए क्या लोग कम आतुर तथा प्रयत्नशील रहते हैं? अपनी प्रसिद्धि और मान की लोलुपता के कारण लोग नदियों-तालाबों पर घाट बनवा कर उन पर अपने नाम का पत्थर लगा देते हैं। समाचार-पत्र से एक बार किसी ने एक हत्या-कांड का समाचार सुनाया था। विदेश की घटना है। एक व्यक्ति ने अपने देश के एक महान् पूज्य नेता की हत्या कर दी। वह पकड़ा गया और उस पर मुकदमा चला। उसने हत्या करने के कारण का स्पष्टीकरण करते हुए न्यायालय में बताया था, "मैंने अपने नाम की प्रसिद्धि के लिए अनेकानेक उपाय किये, परन्तु किसी प्रकार भी सफल न हो सका। अन्त में इस लोलुपता के वशीभूत होकर मैंने यह हत्या की, और सोचा, कि जब तक इस महापुरुष का नाम संसार में रहेगा, तब तक मेरा भी नाम रहेगा ....।" माना कि यह घटना एक अपवाद ही है परन्तु नाम-प्रसिद्धि की तृष्णा भी एक महान् रोग है, यह कहना अयुक्त नहीं है।

नाम-प्रसिद्धि की तृष्णा आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। इसका परित्याग वैराग्य की निष्पत्ति के लिए परम आवश्यक है।

तनिक सा विचार करने पर ऐसी अनित्य वस्तुओं की निस्सारता तथा इनके प्रति आसक्ति की अज्ञानता प्रगट हो जाती है। क्या हुआ यदि आपने भव्य भवनों का निर्माण कर लिया और उनके स्वामी बन बैठे? क्या हुआ यदि लाखों रुपये संचय कर लिये, जो दृढ़ एवं अग्नि-सुरक्षित तिजोरियों की शोभा बढ़ाने के अतिरिक्त किसी प्रयोजन के नहीं हैं? क्या हुआ यदि आप संसद का चुनाव जीत गये हैं अथवा जीत जाते हैं? और यदि आपने सुन्दर और सुदृढ़ शरीर बना लिया तो भी क्या हुआ? ये सभी पदार्थ एवं परिस्थितियां क्षणभंगुर हैं, जो किसी भी समय धोखा दे सकती हैं। इनका वियोग अवश्यम्भावी है। किसी समय भी आप के चाहते अथवा न चाहते हुए भी ये आपका साथ छोड़ सकती हैं, अथवा आप को ही इनका साथ छोड़ना पड़ेगा। संसार की सभी अनित्य वस्तुओं तथा परिस्थितियों सहित यह जीवन पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है, जो किसी भी समय हाथों से निकल सकता है—

"जल बुदबुदवन्मूढ क्षणनिध्वंसि जीवनम्।
किमर्थं शाश्वतधिया करोषि दुरितं सदा।।"

क्या अपने इस बहुमूल्य मानव-जीवन को इन वस्तुओं के प्राप्त करने में ही व्यतीत करना कोई बुद्धिमानी की बात है जिनका न तो कोई स्थायी आधार है और जो न ही आपको आन्तरिक शान्ति प्रदान कर सकती हैं? क्या नित्य परमात्मा को अनित्य वस्तुओं के बदले में बेच देना बुद्धिमत्ता है? नहीं, प्यारे! ऐसा करना तो विवेक-शक्ति का दिवाला निकाल देना है। यदि आप सांसारिक पदार्थों में आसक्त हो जाते हैं तो वे आपको सच्चे आनन्द की प्राप्ति के मार्ग से भटका तो अवश्य सकते हैं, परन्तु वे आपके जीवन को निर्भय बना सकें अथवा उसे पूर्णरूप से सुरक्षा प्रदान कर सकें—यह कदापि सम्भव नहीं है।

क्या आप चाहते हैं कि आप का जीवन पूरी तरह सुरक्षित हो? क्या आप अपने समस्त जीवन के लिए शान्ति-प्राप्ति तथा इस शान्ति की अखण्डता के लिए पूरी सुरक्षा की सचमुच आकांक्षा करते हैं? यदि हाँ, तो इसका एक, केवल एक ही, अभ्रान्त और अचूक मार्ग यह है कि भगवान के हृदय में स्थान प्राप्त करने की अभीप्सा रख कर तदर्थ पुरुषार्थ करें, अथवा अपने हृदय को पवित्र बनाकर भगवान को वहाँ पूर्णरूप से प्रतिष्ठित कर लें। यह तभी होगा जब आप अपनी समस्त ममता और आसक्ति को उसके अगणित उपहारों-भेटों से हटा कर उस 'महान् दाता' में ही लगाएंगे—

"जननी जनक बन्धु सुत दारा। तन धनु भवन सुहृद परिवारा।।
सब के ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बांध कर डोरी।।
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसे धन जैसे।"

(रामचरितमानस)

जब आप भगवान के हृदय में बस जायेंगे अथवा जब भगवान आपके हृदय में बस जायेंगे तो आपकी सर्व प्रकार से ही सुरक्षा होगी। वृक्ष को पा लेने पर उसकी छाया अपने आप ही प्राप्त हो जाती है। भगवान ने सद्शास्त्रों में स्थान-स्थान पर भक्त की सब प्रकार से रक्षा करने की प्रतिज्ञा की है। भक्त का भौतिक एवं आध्यात्मिक सभी प्रकार का योगक्षेम भगवान ने स्वयं वहन करने का वचन दिया है। **"योगक्षेमं वहाम्यहम्, ददामि बुद्धि योगं तम्, मोक्षयिष्यामि मा शुचः"** ये सभी भगवान के वचन हैं। उनकी यह प्रतिज्ञा मात्र शब्द ही नहीं हैं, प्रत्युत समय-समय पर उन्होंने इस प्रतिज्ञा को निभाया है तथा आगे भी निभायेंगे। भक्तों और सन्तों का इतिहास इस बात का साक्षी है। परन्तु यह सब कुछ उन भक्तों और सन्तों के लिए है जो अनन्य-चित्त हों, जो भगवान से नित्याभियुक्त हों, जो सतत् भगवान का

प्रीतिपूर्वक भजन करते हों तथा जो एक मात्र भगवान के प्रति ही दृढ़ अनुराग रखते हों। भगवान के श्रीचरणों में दृढ़ अनुराग प्राप्त होना बिना सुदृढ़ वैराग्य के सम्भव नहीं है। इसके लिये संसार से राग की निवृत्ति अथवा वैराग्य की धारणा नितान्त आवश्यक है।

जगत का बाहर से परित्याग करने वाले कुछ तपस्वी लोगों के द्वारा वैराग्य को संसार के पदार्थ और प्राणियों के प्रति घृणा अथवा उनकी अवमानना से सम्बद्ध कर दिया जाता है। वैराग्य की यह व्याख्या सर्वथा गलत है। वैराग्य के सम्बन्ध में यह एक भ्रान्तिमूलक अतिश्योक्ति है। 'वैराग्य' शब्द द्वेष अथवा घृणा का परिचायक कदापि नहीं हो सकता। घृणा—चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो—वस्तुतः राग का ही विपर्यस्त (उल्टा) रूप है। जैसा कि मनोविज्ञान हमें बताता है, किन्हीं व्यक्तियों अथवा वस्तुओं के प्रति घृणा होना इस बात का संकेत है, कि घृणा अथवा द्वेष करने वाले के अन्दर दूसरे पदार्थ और व्यक्तियों के प्रति राग किया हुआ है, चाहे वह व्यक्ति इस राग से अनभिज्ञ हो अथवा जानते हुए भी इस राग को बाहर प्रगट न होने देता हो।

इसके अतिरिक्त, यथार्थ वैराग्य असफल जीवन की अरुचि और नैराश्य (the disgust and frustration of a defeated life) पर आधारित नहीं होता। यह (यथार्थ वैराग्य) न्यायपूर्ण और ईमानदारी पर आधारित व्यवसाय को अवश्यमेव छोड़ देने की शिक्षा नहीं देता। यह जीवन-संग्राम से बच कर भाग निकलने के पक्ष में भी नहीं है। इस सम्बन्ध में एक कथा सुनी है जिसके अनुसार तमीनो नाम के एक महान् योगी जो बौद्धमत की हीनयान विचारधारा के अनुयायी थे, के जीवन के प्रति दृष्टिकोण में गहरा परिवर्तन आया।

तमीनो ने दीर्घकाल तक बड़े उत्साह, धैर्य तथा अध्यवसाय से युक्त हो, निरन्तर एकान्त-सेवन, मनन-चिन्तन और योग-अभ्यास द्वारा साधना की थी। निषेधात्मक पद्धति, अर्थात् नेति-नेति के मार्ग से मन को अन्तर्मुख कर के उन्होंने ज्ञान की उस सप्तम्-भूमिका में प्रवेश पा लिया था जहाँ न यह जगत रहता है और न जगत की छाया। चेतना की इस अवस्था में स्थित हो कर, जिसमें नाम-रूपात्मक जगत का पूरा बाध हो जाता है वे सदा उसी महान् नीरव शान्ति का आस्वादन करते रहने में ही जीवन की सार्थकता का अनुभव करते थे और एकान्त निर्जन वन में एक बौद्ध मन्दिर में निवास करते थे। और इस प्रकार दिन व्यतीत हो रहे थे।

एक दिन एक विचित्र घटना घटी। वे मन्दिर से कुछ दूर वन में एक स्थान पर ध्यान-निदिध्यासन के लिए जाकर बैठे ही थे कि वहाँ से एक यात्री निकला। इधर तमीनो अपने ध्यान में अन्तर्मुख होकर जगत-शून्य निर्गुण चेतना में तल्लीन हो गये और उधर कुछ लुटेरों ने उस यात्री को घेर लिया। यात्री ने तमीनो को बार-बार सहायता के लिए पुकारा, परन्तु वे तो इस जगत में थे ही नहीं (अर्थात् वे जगत से शून्य, चेतना में अवस्थित थे)। लुटेरों ने यात्री को लूटा, पीटा, घायल किया और मरा समझ वहीं छोड़ कर चले गये। अत्यन्त घायल, उठने में असमर्थ, वह यात्री उस परिपीड़ित गम्भीर अवस्था में पड़ा तमीनो को सहायता के लिए पुकारता-पुकारता मूर्च्छित हो गया। जब तमीनो की समाधि भंग हुई तो वे अपनी शारीरिक और मानसिक चेतना में पुनः लौटे। उन्होंने अपने नेत्र खोले और तब उस मूर्छित अवस्था में पड़े उस यात्री को देखा। यह दृश्य देख कर वे अत्यन्त व्यथित हो गये तथा संभल कर उठे और यात्री के पास पहुँचे। देखा—उसके शरीर में अभी प्राण थे, नाड़ी चलती थी। उन्होंने जल

लाकर उसके मुख में डाला और उसके घावों पर पट्टी की। परन्तु तब तक उसका बहुत रक्त बह चुका था। कुछ क्षणों के पश्चात् उसने नेत्र खोले और सजल नेत्रों से तमीनो को देखा तथा बड़ी कठिनाई से आर्त्तभरे स्वर में कहा, "इस समय आने से और यह सब कुछ करने से क्या लाभ? जब मैं आपको सहायता के लिए पुकारता रहा तब तो....।" और इतना कहते-कहते ही उसके प्राण शरीर को छोड़ गये। तमीनो का चित्त उद्विग्न हो उठा। उनकी समस्त आन्तरिक शान्ति जिसे उन्होंने इतने कठोर साधन, नियम-संयम तथा एकान्तवास में अनवरत निदिध्यासन के अभ्यास द्वारा दीर्घकाल में प्राप्त किया था, एक क्षण में ही उड़ गई। बड़े अशान्त एवं व्याकुल हृदय से वे धीरे-धीरे मन्दिर तक आये और भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के सम्मुख बैठ गये। अनेक वर्षों से विकल्प-शून्य हुए उनके मन में इस उपर्युक्त घटना ने पुनः एक ऐसे विकल्प को जन्म दे दिया था जिसने उनके चित्त को व्यग्र कर दिया। वे इस विकल्प का समाधान साक्षात् भगवान् बुद्ध से ही कराना चाहते थे। तमीनो की सच्ची अभीप्सा तथा नम्रता को देखकर भगवान् बुद्ध प्रतिमा से साक्षात् प्रगट हो गये। तत्पश्चात् तमीनो और उनके बीच निम्न प्रकार से वार्तालाप हुआ–

तमीनो–प्रभो! क्या आपका उपदेश (gospel) सच्चा था?

भगवान् बुद्ध–सच्चा भी और झूठा भी!

तमीनो–इसमें सच्चा क्या था?

भगवान्–वैराग्य।

तमीनो–और इसमें झूठा क्या था?

भगवान्–जीवन के संग्राम से बचकर भाग निकलने की प्रवृत्ति!

इस कथा के दो मुख्य भावार्थ हो सकते हैं। पहला तो यह कि

अध्यात्म की उच्चतम अवस्था की प्राप्ति के लिये संसार छोड़ कर वन में रहना आवश्यक शर्त नहीं है किन्तु मन से सभी नश्वर पदार्थ-परिस्थितियों-सम्बंधों के प्रति वैराग्य होना अति आवश्यक शर्त है। दूसरा भावार्थ यह है कि यदि कोई भी घटना साधक के चित्त में करुणा का स्फुरण करके क्षोभ पैदा करती है तो यह इस बात का संकेत है कि अभी भी साधक में सूक्ष्मरूप से सात्विक अहंकार बना हुआ है। किन्तु यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि सात्विक अहंकारजन्य करुणा-दया आदि सद्गुण परमसत्य की प्राप्ति से पहले तो मार्ग में सूक्ष्म-सात्विक बाधा बन कर उपस्थित हो सकते हैं परन्तु परमात्मा के अनुभव में प्रतिष्ठित होने के बाद सात्विक/दैवी सम्पत्ति, जैसे करुणा, दया, क्षमा आदि से युक्त होना बोधवान महापुरुषों का सहज स्वभाव हो जाता है।

तात्पर्य यह कि वैराग्य जीवन-संग्राम से बच कर भागना नहीं सिखाता। सच तो यह है कि इस प्रकार का दृष्टिकोण वैराग्य की सच्ची भावना के विपरीत है। इसका अर्थ ईमानदारी से किये जा रहे अपने व्यवसाय अथवा कर्त्तव्य-कर्म को छोड़ना नहीं है। वैराग्य का वास्तविक अर्थ है अनासक्ति, जिसका प्रयोजन भगवत्-चरणों में दृढ़ अनुराग अथवा आत्म-ज्ञान तथा परब्रह्म पुरुषोत्तम की उपलब्धि ही है।

संसार और उसके पदार्थ-परिस्थितियों के पीछे दौड़ना शत-प्रतिशत आध्यात्मिक पतन का ही चिह्न है, परन्तु साथ ही साथ उस सब का, जो कुछ भी आप के पास है अथवा जो बिना आप की इच्छा किये भगवत्कृपा से आप को प्राप्त होता है, विवेक-शून्य होकर परित्याग कर देना भी अपरिपक्व-विचार-जनित भूल से कम नहीं है।

यदि आपके पास आपके भरण-पोषण योग्य साधन नहीं है, यदि आप में परमात्मा के प्रति अत्यन्त प्रगाढ़ श्रद्धा और पूर्ण विश्वास नहीं है अथवा यदि आप के पास पर्याप्त आत्म-बल एवं आत्म-विश्वास नहीं है तो आप वैराग्य के नाम का सहारा लेकर कर्मों के परित्याग का विचार मन में न लाइये। ऐसी श्रद्धा-विहीन मानसिक दशा के रहते हुए साधु की वेशभूषा लेकर आप सही दिशा में और सही भावना से अपनी आध्यात्मिक साधना न कर पायेंगे। यह आप को पराश्रित बना देगा और वासस्थान की समस्या के अतिरिक्त आपको अपने शरीर को जीवन धारण करने योग्य बनाये रखने के लिए केवल दो रोटियों के लिए द्वार-द्वार दौड़ना भी पड़ेगा।

वैराग्य शरीर को जीवन धारण करने योग्य बनाये रखने और उसकी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर्म करने के विरुद्ध नहीं है। यह निष्काम कर्म तथा सेवा करने के विरोध में भी नहीं है, परन्तु इन (निष्काम कर्म तथा सेवा आदि) साधनों को अन्तिम साध्य—परमात्मा का दर्जा अथवा स्थान नहीं दे देना होता—वह परम साध्य (भगवान) तो किसी समय तथा किसी स्थान पर भी दृष्टि से ओझल नहीं होना चाहिये।

वैराग्य निरी दार्शनिक उदासीनता मात्र ही नहीं है। यह 'मैं, मेरे और मुझे' की भावना के पूर्ण त्याग को निर्दिष्ट करता है। जिन साधनों द्वारा वैराग्य के भाव को सुदृढ़ तथा विकसित किया जा सकता है, उनमें से मुख्य ये हैं—

(क) सभी सांसारिक पदार्थ-परिस्थितियों की क्षणभंगुरता पर निरन्तर विचार-मनन।

(ख) वैराग्यशील महापुरुषों का संग एवं सामीप्य।

(ग) असंग आत्मा के स्वरूप का मनन-चिन्तन।

(घ) उन परब्रह्म पुरुषोत्तम का सतत् दिव्य गुणानुवाद करना जो सभी झूठे सम्बधों से परे हम सभी के 'निःस्वार्थ-प्रेमी' हैं।

(ङ) ऐसे ग्रन्थों का नित्य स्वाध्याय तथा मनन जिनसे चित्त में वैराग्य के भाव जाग्रत हों।

संसार में अकेले ही हम आते हैं और अकेले ही यहाँ से चले जाते हैं। तब फिर जगत में किसको अपना साथी, मित्र अथवा सम्बन्धी माना जावे?

"तेरा तो कोई है नहीं मात पिता सुत नार ।
कहो नानक बिन हरि भजन सुपने ज्यों संसार।।
धन जोबन यूं जायेगा, जां विधि उड़त कपूर।
नारायण गोबिन्द भज, क्यों चाटे जग धूर।।
साथ न चाले बिन भजन बिख्या सकली छार।
हरि हरि नाम कमावना नानक एह धन सार।।
नारायण संसार में भूपति भये अनेक।
मैं-मेरी करते गये, ले न गये तृण एक।।"

आसक्ति की कब्र के ऊपर ही अध्यात्म के दिव्य भवन की नींव रखी जाती है। राग की मृत्यु से ही वैराग्य का जन्म होता है तथा वैराग्य के द्वारा ही भगवान के प्रति अनुराग मिलता है और सुरक्षित रहता है अथवा मोक्षदायी आत्मज्ञान में निष्ठा हो पाती है। वैराग्य एक दुर्लभ रूपान्तरण है तथा सर्वप्रकार से ही कल्याणकारी है। वैराग्य से भला किसको सुख नहीं मिलता? **"कस्य सुखं न करोति विरागः।"**

आत्म-निग्रह (Self-Control)

आत्म-निग्रह और आत्म-स्वामित्व वस्तुतः एक ही वस्तु है। मनुष्य है—शरीर, इन्द्रियां, प्राण, मन, बुद्धि तथा अन्तर्पुरुष आत्मा का संघात।

अन्तस्थ यह आत्मा स्वरूपतः परम् पुरुष ही है, जो इस देह के अन्दर बैठकर देह-प्रकृति के इन सभी अंगों को सत्ता देने वाला, इसका भरण-पोषण करने वाला तथा इस पर शासन करने वाला है—

"उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहोऽस्मिन्पुरुषः परः।।" (गीता 13.22)

आत्म-निग्रह का अभिप्राय इससे तनिक भी कम नहीं होगा कि शरीर और उसकी क्रियाओं पर पूर्ण नियन्त्रण हो, इन्द्रियों एवं प्राण की सब गति-विधियों पर पूर्ण नियन्त्रण हो तथा मन एवं बुद्धि और उनकी तत्सम्बन्धी समस्त मानसिक चेष्टाओं पर भी पूरा नियन्त्रण हो। यह निस्संदेह एक बहुत ऊँची स्थिति है, जिस को उपलब्ध करने के लिए दीर्घकालीन कठोर परिश्रम और अनुशासन की अपेक्षा है। विकास (evolution) का अर्थ होता है—प्रकृति में सन्निहित (involved) पुरुष (आत्मा) के वास्तविक स्वरूप तथा उसकी मूलभूत शक्तियों का क्रमिक उद्‌घाटन अथवा अभिव्यक्ति। और यदि यह सत्य है (जो पूर्ण रूप से सत्य ही है) कि अन्तस्थ पुरुष (आत्मा) ही प्रकृति का आधार, उसे आश्रय देने वाला तथा उसका स्वामी है, तो यह स्वीकार करना ही होगा कि विकासक्रम के किसी स्तर व बिन्दु पर विकासोन्मुख (evolving) जीव के लिये पूर्ण आत्म-स्वामित्व प्राप्त करना न केवल एक जीती-जागती वास्तविकता ही होगी बल्कि यह एक नैसर्गिक व सहज-क्रिया भी बन जायेगी।

आध्यात्मिक विकास जैसे विशद विषय की विस्तारपूर्वक चर्चा करने को यह स्थान उपयुक्त नहीं है। यहाँ हम सीमित रहकर कहेंगे कि आत्म-नियन्त्रण का अर्थ शरीर, इन्द्रियों और मन पर वह वाञ्छनीय

नियन्त्रण है, जिस के द्वारा परमात्मा के साथ तदाकार तथा उसमें तल्लीन होने का मार्ग सरल और सुगम हो जाता है।

गीताजी के एक श्लोक में, वह श्लोक जो थोड़ा हेरफेर करके कठोपनिषद् में भी आया है, कहा गया है—

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।" (गीता 3.42)

अर्थात्, इन्द्रियाँ पर अथवा श्रेष्ठ हैं (विषयों से), इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है; मन से श्रेष्ठ बुद्धि है और बुद्धि से भी अत्यन्त परे, अर्थात् महान्, श्रेष्ठ वह अन्तस्थ आत्मा है।

इस श्लोक का तात्पर्य स्पष्ट करने के लिए कठोपनिषद् के प्रणेता ऋषि ने एक दूसरे स्थान पर एक रूपक की कल्पना की है, जिसमें शरीर की तुलना रथ से की गई है, इन्द्रियाँ घोड़े माने गये हैं, जो इस रथ को खींचते हैं, मन को लगाम, बुद्धि को सारथी और जीवात्मा को उन सब का स्वामी माना गया है। यात्रा तभी सुरक्षित, सुखद और क्षिप्र होती है यदि रथ सर्व साधन सम्पन्न हो, घोड़े बलवान और युवा परन्तु पर्याप्त सधे हुए हों, लगाम ऐसी अच्छी हो जो घोड़ों को नियंत्रण में रख सके, सारथी कुशल प्रशिक्षित चालक हो जो मार्ग से परिचित हो तथा उचित मार्ग से दौड़ाते समय घोड़ों को नियन्त्रण में रख सकता हो; और सर्वोपरि, रथ में बैठा स्वामी सतत् सतर्क और सारथी पर शासन करने में गरिमावान तथा शक्तिशाली हो, जिससे कि यह सारथी आज्ञा का उल्लंघन करने वाला न बन जाय अथवा वह अपने स्वामी के शत्रुओं के साथ मिल कर षड्यन्त्र न रच दे और उसको (स्वामी को) कोई क्षति न पहुँचा देवे।

इसके विपरीत यदि वाहन उपयुक्त दशा में नहीं है, यदि घोड़े बूढ़े हैं,

अथवा बलवान परन्तु बिना सधाये हुए हैं, यदि लगाम खराब और निर्बल है, यदि सारथी मूर्ख, असावधान और सोता-सा एवं प्रमादी है और यदि स्वामी अशक्त और शासन करने के अयोग्य है तो यात्रा में अनेक बाधायें उपस्थित हो सकती हैं और वह (यात्रा) पर्याप्त भयंकर हो सकती है, यहाँ तक कि नितान्त असफल भी हो सकती है।

उपर्युक्त रूपक में शरीर, मन, बुद्धि तथा जीवात्मा में जिस परस्पर सम्बंध का निर्देश किया गया है, उस का उल्लेख कठोपनिषद् के निम्नलिखित श्लोकों में हुआ है—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।" (कठोप० 1.3.3,4)

अब हम दृष्टान्त से दार्ष्टान्त की ओर आते हुए देखते हैं कि यह संसार अपना सच्चा घर नहीं है। जन्म-जन्मान्तर से अपने परम पिता परमात्मा से बिछुड़ा हुआ जीव इस जगत् रूपी वन में भटकता फिर रहा है। इस संसार रूपी वन के भय, भूख-प्यास, व्याधि, काम, क्रोध, मोह, जरा आदि हिंसक पशुओं द्वारा त्रस्त और संतप्त जीव को भगवान ने कृपा करके यह मानव शरीर रूपी रथ तथा इसके साथ-साथ इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि रूपी साधन प्रदान किया है, ताकि वह अपने परम पिता परमात्मा रूपी सच्चे घर को पहुँच सके। परमात्म-तीर्थ की इस यात्रा का अधिकतर भाग तो शरीर, मन-बुद्धि तथा इन्द्रियों द्वारा ही तय करना होता है, यद्यपि सम्पूर्ण यात्रा तय करने में ये साधन या उपकरण साथ नहीं देते। अतएव

व्यक्ति के लिए अपने परम दिव्य लक्ष्य तक पहुँचना सरलतर हो जाता है, यदि ये साधन-उपकरण पूर्णरूपेण विकसित तथा नियन्त्रित हों। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय और मन का नियन्त्रण तथा बुद्धि का उद्बोधन आध्यात्मिक साधना के अनिवार्य अंग बन जाते हैं।

"यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्य इन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्मात् भूयो न जायते।।
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्।।

(कठोप० 1.3- 5, 6, 7, 8, 9)

यह कथन यथार्थ ही है कि मन बन्धन का कारण है और साथ ही मोक्ष का भी—**"मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।"** शुद्ध, विकसित और नियन्त्रित मन मोक्ष का कारण बनता है, जब कि विषय-आसक्त, अनियन्त्रित एवं अनुशासनहीन मन बन्धन का कारण बन जाता है—ठीक उसी प्रकार जैसे घुड़सवार स्वतन्त्र होता है उस समय, जब घोड़ा उसके पूर्ण नियन्त्रण में होकर चलता है और पराधीन होता है उस समय, जब घोड़ा निरंकुश और अनियन्त्रित होकर इतनी तीव्र गति से दौड़ रहा हो कि उसके घुड़सवार के रोकने से भी न रुकता हो।

तो भी यह स्मरण रहे कि आत्म-निग्रह का अभिप्राय इन्द्रियों का दमन करना अथवा इन्हें नष्ट करना नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों को भयंकर स्वामी परन्तु लाभदायक सेवक समझना चाहिये। आत्म-निग्रह शरीर, इन्द्रिय और मन को स्वेच्छापूर्वक उन शारीरिक, ऐन्द्रिक अथवा मानसिक कर्मों के करने से रोकने की योग्यता को निर्दिष्ट करता है, जिन कर्मों को अन्तरात्मा अथवा उच्चतर प्रज्ञा करने को वर्जित करती है तथा शरीर इन्द्रिय एवं मन के ऐसे कर्मों के यथेच्छा संचालन की क्षमता को भी दर्शाता है, जो कर्म अन्तस्थ पुरुष अथवा उच्चतर प्रज्ञा द्वारा स्वीकृत किये जाते हैं। इस प्रकार आत्म-निग्रह-युक्त व्यक्ति वह होता है, जो स्वेच्छापूर्वक अपनी इन्द्रियों और मन को किसी भी पदार्थ अथवा विषय से हटा सके तथा उनको वहाँ नियुक्त कर सके जहाँ ऐसा करना वह उचित समझता हो।

इन्द्रिय-निग्रह और मनो-निग्रह परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। मनो-निग्रह द्वारा ही इन्द्रियों का पूर्ण निग्रह सम्भव है, और इन्द्रिय-निग्रह से मन के ऊपर नियन्त्रण कर पाने में पर्याप्त सहायता मिलती है क्योंकि इन्द्रियों के माध्यम से ही मन प्रायः बाहर भटका करता है।

"यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।" (गीता 2.60)

तथा; मन और इन्द्रियाँ जहाँ मिल जाती हैं, वहाँ बुद्धि को वैसे ही हर लेती हैं, जैसे वायु जल में नाव को हर ले जाती है। गीताजी के शब्दों में—

"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।" (गीता 2.62)

अतएव पूर्ण आत्म-स्वामित्व की उपलब्धि के लिए इन्द्रियों तथा मन का पूर्ण निग्रह सदा-सर्वदा आवश्यक है।

इन्द्रियों और मन से परे, उनसे अधिक बलवान बुद्धि है। वह यदि निर्भ्रान्त हो, विवेकयुक्त हो तथा अनुभव द्वारा उद्बोधित हो, तो प्रबोधित युक्तियों द्वारा वह इन्द्रियों और मन को निग्रह में रख सकती है। विषयों के प्रति आसक्ति के संस्कार ही मनो-ग्रन्थियाँ होती हैं, जिन को खोलना सतत् विवेक के बिना सम्भव नहीं होता। साधारणतया, धागे में यदि गाँठें पड़ जायें तो वे भी युक्ति तथा बुद्धि के बिना केवल बलप्रयोग से नहीं खुलतीं, फिर मन की 'गाँठों' को खोलने के लिए तो कुशल बुद्धि का होना सर्वथा अनिवार्य ही है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा आत्मा के परस्पर वास्तविक सम्बन्धों को जानने और अनुभव करने के लिए अन्तर्मुख होकर मनन-विचार करने से पर्याप्त सहायता मिलती है। बारम्बार अभ्यास करके अपने सच्चे 'मैं' के साथ तदाकार हो जाइये और शरीर, इन्द्रिय आदि पर अपनी विजय की घोषणा कर दीजिये। आप निःसीम आत्मा हैं! अपने स्वरूप को पहचानिये और नाक, कान, जिह्वा आदि इन्द्रियों तथा मन के दास मत बनिये। उल्टी गंगा मत बहाइये। जागिये और धारा की गति को मोड़ दीजिये। उपद्रव मचाने वाले मन और इन्द्रियों के विरुद्ध बुद्धि की सहायता से दृढ़तापूर्वक धर्म-युद्ध छेड़ दीजिये और विजय को प्राप्त होइये। आत्म-निग्रह द्वारा ही दैनिक जीवन में शान्ति और साथ ही वह महान् शाश्वत शान्ति, जिसे ठीक-ठीक समझ पाना बुद्धि की पहुँच से परे है, प्राप्त हो सकती है और तभी आप उस शान्ति को सदा के लिये अधिगत कर सकते हैं।

निष्काम कर्म अथवा सेवा

निष्काम कर्म अथवा सेवा वह कर्म अथवा सेवा है, जो सहज रूप से बिना किसी जाति, मत या वर्णभेद को ध्यान में रखे सब के हितार्थ की

जाती है, अथवा भगवत्‌नाते तथा केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही की जाती है। यह आध्यात्मिक साधना के उन अंगों से जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है या जिनका वर्णन आगे होगा, कम महत्त्वपूर्ण अंग नहीं है। पवित्रता, वैराग्य, विवेक और ध्यानादि सब अपने-अपने स्थान पर अत्यन्तावश्यक हैं और इसी प्रकार निष्काम सेवा भी अपने स्थान पर परम आवश्यक ही है। वास्तव में ये समस्त सद्‌गुण—आत्मा के भूषण, यदि उन्हें ऐसी संज्ञा दी जाये—एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, प्रत्युत्‌ एक-दूसरे के पूरक हैं।

निःस्वार्थ सेवा में पुरस्कार की इच्छा के लिए कोई स्थान नहीं होता, रंचमात्र भी स्थान नहीं होता; और न ही किसी कर्म का केवल बाह्य रूप ही इसका निर्णय करने में समर्थ होता है। किसी कार्य का बाह्य रूप नहीं बल्कि उस कार्य के पीछे जो आन्तरिक प्रेरक-भाव (inner motive) होता है, बस वही विचारणीय होता है। कर्म का बाह्य रूप इतना लघु हो सकता है, जैसे धूल झाड़ना अथवा झाड़ू से सफाई करना, अथवा इतना बड़ा हो सकता है, जैसे गरीबों को निःशुल्क भोजना कराना या शिक्षा देना। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि कार्य के बाह्य रूप या फल का महत्त्व नहीं है। निष्काम सेवा आध्यात्मिक जीवन को वैसे ही समृद्ध बनाती है, जिस प्रकार ध्यान एवं मनन अथवा भगवत्स्मरण या ईश्वराराधन।

यथार्थ बात तो यह है कि निःस्वार्थ सेवा बिना पर्याप्त सम्यक्‌ भजन-चिन्तन के, जिस पर कि यह आधारित होती है, सम्पादित की ही नहीं जा सकती। ध्यानावस्थित होकर हम शाश्वतता के गुणों को ग्रहण करते हैं और इस उपलब्धि द्वारा हम देश-काल अनुसार सद्‌गुणों को निःस्वार्थ सेवा के रूप में वितरण करने योग्य बनते हैं। परन्तु व्यय और

आय में सन्तुलन रहना आवश्यक है। बिना गम्भीर ध्यान-चिन्तन के सेवा पूर्णरूपेण निःस्वार्थ नहीं बन पाती क्योंकि गम्भीर ध्यान-चिन्तन-विहीन सेवा में पर्दे के पीछे अहंकार छुपा रहता है और फलस्वरूप अपनी सेवा के बदले किसी न किसी रूप में पुरस्कार प्राप्त करने की भावना आ ही जाती है।

केवल एक भगवान का ध्यान-भजन करने वाला साधक ही पूरी तरह निष्काम सेवक हो सकता है। अन्तर्मुखता के सतत् अभ्यास द्वारा वह इस तथ्य की गहन अनुभूति प्राप्त कर लेता है कि जो कुछ भी उस के पास है वह सब—शरीर, मन, बुद्धि आदि—उस महती भागवती विश्व-शक्ति के यन्त्र हैं, जिस का यह समस्त जगत् लीलारूपी सहज व स्वतन्त्र कर्म है। ऐसा भक्त जो विश्व रूपी महान कार्य का दृष्टा भी है तथा साथ ही साथ उस में पात्र भी है, भगवान के हाथों में एक सचेत व स्वैच्छिक यन्त्र बन जाता है। प्राप्त सभी शक्तियों को भगवन्नाते सेवा-कार्य में लगा कर भी वह सर्वदा यही मानता, अनुभव करता तथा कहता है—

"त्वया हृषिकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।"

यह कोरी भावुकता की ही बात नहीं है। अहं से सर्वथा रहित और भगवान के प्रति आत्म-समर्पण की पूर्ण स्थिति को प्राप्त निःस्वार्थ सेवक केवल इसे मानता या जानता ही नहीं, बल्कि भगवद् सहज ज्ञान में स्थित ऐसे भक्त के जीवन का यह केन्द्रीय व प्रमुख भाव है। उसे यह स्पष्ट तथा गहनता से प्रतीत होता रहता है कि उसके शरीर, मन और इन्द्रियों द्वारा जो भी आन्तरिक अथवा बाह्य क्रियायें होती हैं, वे समस्त भगवान की सत्ता, शक्ति, प्रकाश तथा आनन्द से ही चालित होती हैं।

सेवा करने पर जो अपने अन्दर मिथ्या अहं आ जाता है, उसका पूर्ण उन्मूलन सतत् प्रभु-स्मरण और ध्यान-चिन्तन द्वारा ही किया जा

सकता है। आध्यात्मिक साधना में निःस्वार्थ सेवा का सहयोग ध्यान-चिन्तन करने की योग्यता को बढ़ाता है और ध्यान-भजन-मय जीवन को अधिक समृद्ध बनाता है।

भगवान के नाते से तथा भगवान की प्रसन्नता-प्राप्ति के लिए की गई सेवा वास्तव में भक्ति ही होती है, भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार की सेवा वास्तव में गहन भक्ति होती है जो कर्म के रूप में बाहर प्रवाहित होती है। सचमुच, यह भक्ति-भाव-पूर्ण हृदय ही होता है, जो अपने आपको मस्तिष्क के माध्यम से क्रिया-शक्ति के रूप में अभिव्यक्त करता है।

कुछ व्यक्ति निष्काम सेवा अथवा निष्काम कर्म को साधना का प्रारम्भिक रूप मानकर ज्ञान और भक्ति को इससे अधिक महत्त्व देते हैं। यहाँ तक कि अनेक महान् आचार्य, धार्मिक एवं अध्यात्मवादी विद्वान भी अपने ही अध्यात्म दर्शन के सिद्धान्तों में इतने उलझे हुए पाये जाते हैं कि वे एक-दूसरे पर कठोर आक्षेप करके एक-दूसरे को नीचा दिखाने में लगे रहते हैं—वे अपने आत्मश्लाघा पूर्ण (boastful) शास्त्रीय ज्ञान के प्रदर्शन द्वारा अपने दृष्टिकोण को ही श्रेष्ठ बताने में और दूसरों के मत की आलोचना करने में प्रयत्नशील रहते हैं। यह सब दृष्टि की संकीर्णता का द्योतक है। भक्ति, ज्ञान तथा भगवत्प्रसन्नता हेतु की जाने वाली निष्काम सेवा के मार्ग—ये सभी परमात्मा की खोज में समान रूप से वैध, समर्थ और फलप्रद हैं। उनमें कौन-सा साधन श्रेष्ठ है और कौन-सा निम्न श्रेणी का अथवा कौन-सा साधन प्रत्यक्ष (direct) है और कौन-सा अप्रत्यक्ष (indirect)—यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस समस्या का भी कि उनमें कौन-सा साधन अधिक कठिन है और कौन-सा अधिक सरल, समाधान हो जाता है जब हम जान लेते हैं कि अपनी भिन्न-भिन्न शारीरिक और मानसिक रचनाओं

(psycho-physical constitutions) के कारण भिन्न-भिन्न क्षमतायें और योग्यतायें रखने वाले व्यक्ति इस सृष्टि की भागवती योजना में अलग-अलग सापेक्ष स्थानों पर खड़े हैं, जहाँ-जहाँ से उन्हें परमात्मा की ओर चलना तथा पहुँचना है।

निष्काम सेवा, एक दृष्टि से, परात्पर परब्रह्म के इस विश्व में व्यापक होने के बोध की क्रियात्मक स्वीकृति है। परात्पर पुरुषोत्तम भगवान का—जो एक ही साथ विश्वमय एवं विश्वातीत भी हैं—अनुभव केवल देशकाल-रहित निर्गुणात्मा में ही नहीं करना होता बल्कि समस्त विश्व के अन्दर भी करना होता है। **"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्याम् जगत्"** की अनुभूति के बिना आध्यात्मिक उपलब्धि पूर्ण नहीं मानी जा सकती। क्षर-अक्षर, प्रकृति-पुरुष, सगुण-निर्गुण, सक्रिय-निष्क्रिय आदि भावों में अनुस्यूत तथा उनसे अतीत पुरुषोत्तम-पद की व्यापक एवं परिपूर्ण अनुभूति द्वारा ही, भक्ति, ज्ञान तथा निष्काम सेवा में ठीक-ठीक समन्वय होता है।

एक बात और भी है। बहिष्कारात्मक (exclusive) अनन्य ध्यान-चिन्तन के मार्ग में इस भय की भी आशंका है कि आत्मा की प्रयोग में न लाई गई शक्तियाँ, विशेषकर प्राण-पुरुष की ऐसी शक्तियाँ, ह्रास को प्राप्त न हो जायँ। क्यों न प्राण-पुरुष की समस्त शक्तियों (विशेषरूप से क्रिया-शक्ति) का भी संशोधन किया जाय तथा आत्मविकास एवं आत्मानुभव की दिशा में उनका सदुपयोग किया जावे? और यह कार्य सर्वतोपयुक्त ढंग से ध्यान-चिन्तन के साथ-साथ निष्काम कर्म एवं सेवा द्वारा ही सम्पादित किया जा सकता है।

तथापि, यह सदैव स्मरण रखना आवश्यक है कि कर्म आत्मा की समाहित नीरवता से प्रवाहित होना चाहिये, इच्छा के बीज से नहीं। यह

कार्य अधिकाधिक निःस्वार्थ, असंगभाव-सहित, अहंभाव से रहित तथा 'अहं-मम' की पकड़ से सर्वथा रहित होना चाहिये। इस विषय में सदा सावधान रहना होगा कि वह कार्य कालातीत आत्मा के आन्तरिक ज्ञान-प्रकाश एवं आनन्द को आच्छादित न कर दे। संक्षेप में यह कि कर्म करिये अवश्य परन्तु इतना अधिक भी नहीं तथा इस प्रकार से भी नहीं कि वह आपको थका कर अशक्त कर दे तथा आपके आत्मा के आन्तरिक ज्ञान-प्रकाश व आनन्द को ही आच्छादित कर दे।

जो भी कर्म करें, उसके पूरा होने अथवा पूरा न होने का तथा उसका फल मिलेगा अथवा नहीं, इस बात का विचार न करके उस कर्म को केवल प्रभुनाते, प्रभु की प्रसन्नता-प्राप्ति के लिए ही करें। गीताजी के शब्दों में—

"योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।" (गीता 2.48)

तथा

"यत् करोषि यदश्नासि यद् जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।" (गीता 9.27)

सेवा सदैव करिये परन्तु निःस्वार्थ भाव से युक्त होकर। अपनी सामर्थ्य के अनुसार रोगियों, निर्धनों, अपाहिजों और जरूरतमन्दों की धन, भोजन, वस्त्र तथा शिक्षादान द्वारा सेवा करिये। भगवान आप के पास आर्त्त, विकल एवं दीन-दुखी के वेश में आते हैं, उनकी ओर ध्यान दीजिये।

तत्त्व-चिन्तन (Metaphysical Thinking)

तत्त्व-चिन्तन का कार्य जगत् तथा परमात्मा के मौलिक स्वभाव का बुद्धि के द्वारा अनुसन्धान करना है। यह अनुसन्धान अवश्यमेव चिन्तन पर

अधिक आधारित होगा और प्रयोगात्मक कम होगा, क्योंकि इसका सम्बन्ध तथा व्यवहार उन तत्त्वों के साथ रहता है, जो बाह्य रूपों के पीछे छुपे हैं और जो अतीन्द्रिय हैं, अर्थात् जिनको इन्द्रियों द्वारा जानना सम्भव नहीं है।

इस जगत् की प्रकृति अथवा स्वभाव क्या है, और इसके नियम क्या हैं? द्रव्य (matter), जीवन (life) तथा मन (mind) क्या हैं और वे आपस में किस प्रकार सम्बंधित हैं? क्या आत्मा जैसी भी कोई वस्तु है? परमात्मा क्या है? मनुष्य और परमात्मा के बीच तथा परमात्मा और जगत् के बीच कैसा सम्बंध है? यह जीवन कहाँ से आया है और इसे कहाँ जाना है? क्या यह संसार जड़ प्रकृति के जड़ नियमों द्वारा यन्त्र की तरह चालित है? क्या घटनायें संयोग (chance) के आधार पर ही घटित होती हैं अथवा कोई गुप्त प्रज्ञावान चेतना है जो नामरूप के पर्दे के पीछे से विश्व रूपी कार्य का सम्पादन कर रही है?—इस प्रकार के समस्त प्रश्न तत्त्व-चिन्तन के क्षेत्र में अनुसन्धान हेतु उपस्थित होते हैं।

बुद्ध और ईसा मसीह जैसे मानवता के अनेक उपदेश्क हुए हैं, जिन्होने शाश्वत शान्ति एवं आत्म-उद्बोधन (spiritual enlightenment) की प्राप्ति के लिए तत्त्व-चिन्तन को व्यर्थ कहकर उसकी भर्त्सना की है। उन्होंने मनुष्य की आत्मा को मानो हृदय में ही प्रतिष्ठित हुए समझा। इसके विपरीत शंकराचार्य और सुकरात (Socrates) जैसे उपदेशकों का भी पर्याप्त संख्या में प्रादुर्भाव इस संसार में हुआ है, जिन्होंने मनुष्य की आत्मा को मानो मस्तिष्क में ही स्थापित हुआ माना है और तत्त्व-चिन्तन द्वारा अनुसन्धान को आत्म-उद्बोधन की प्राप्ति का केवल सबसे अधिक सक्षम साधन ही नहीं बताया, बल्कि उसे ही एक मात्र साधन मानकर उसको प्रोत्साहन दिया। अब प्रश्न यह उठता है कि अनुसरण किसका किया जाये।

तत्त्व-चिन्तन का आध्यात्मिक अनुसन्धान के दृष्टिकोण से क्या महत्त्व है? क्या आध्यात्मिक जिज्ञासु (spiritual aspirant) के लिए यह आवश्यक है कि वह तत्त्व-चिन्तन के सम्बन्ध में योग्यता प्राप्त करे?

यह तो स्पष्ट ही है कि निःसीम परमात्मा को ससीम बुद्धि की बलि नहीं चढ़ाया जा सकता, चाहे वह (बुद्धि) कितनी भी सूक्ष्म अथवा ऊंची क्यों न हो। जितने भी परिश्रुत (revealed) धर्मग्रन्थ तथा बोधवान महानुभाव हैं, वे सभी एक स्वर होकर घोषणा करते हैं कि परमात्मा का अनुभव इन्द्रियों और मन के द्वारा नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह उनकी पहुँच से परे है। परमात्मा का साक्षात्कार कोई मानसिक अथवा बौद्धिक क्रिया नहीं है। आत्मा अथवा परब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति सदैव अतीन्द्रिय एवं अतिमानसिक ही होती है क्योंकि इन्द्रियों तथा मन-बुद्धि में परमात्मा को समग्र एवं पूर्ण रूप में जानने की सामर्थ्य नहीं है। इस सम्बन्ध में श्रुति में स्थान-स्थान पर स्पष्ट शब्दों में निर्देश मिलते हैं। यहाँ पर हम केनोपनिषद् के पाँच मन्त्रों को ही देकर सन्तोष करेंगे–

"यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।
यच्छक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।"

“यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।”

(केनोप० 1.5,6,7,8,9)

अर्थ–

1. जो वाणी द्वारा नहीं बताया गया है बल्कि जिसके द्वारा वाणी बोली जाती है, उसको ही तुम ब्रह्म समझो। बोलने में आने वाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है।

2. मन के द्वारा जिसे कोई भी नहीं जान सकता बल्कि जिसकी शक्ति से मन जानता है, उसको ही तुम ब्रह्म समझो। मन के ज्ञान में आने वाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।

3. चक्षु के द्वारा जिसको कोई भी नहीं देख सकता बल्कि चक्षु जिसकी शक्ति से देखता है, उसको ही तुम ब्रह्म समझो। चक्षु के देखने में आने योग्य जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।

4. जिसको श्रोत्र के द्वारा कोई नहीं सुन सकता बल्कि जिसकी शक्ति से श्रोत्र सुनते हैं, उसको ही तुम ब्रह्म समझो। श्रोत्र के सुनने में आने वाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।

5. जो प्राणों के द्वारा चेष्टायुक्त नहीं होता बल्कि जिससे प्राण चेष्टायुक्त होता है, उसी को तुम ब्रह्म समझो। प्राणों से चेष्टायुक्त होने वाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।

अतएव ऐसा समझ में आता है कि तत्त्व-चिन्तन की योग्यता कोई ऐसा गुण नहीं है, जिसके बिना भगवत्प्राप्ति की साधना सफल ही न बन सकती हो। साधक का जीवन यदि पर्याप्त संयमित है, यदि साधक अध्यात्म के सम्बन्ध में पहले से ही शास्त्र के अधिक श्रवण अथवा पठन द्वारा निर्मित अपने विश्वासों एवं अपनी धारणाओं में हठी नहीं है, यदि वह अन्तरात्मा के कोमल संस्पर्श और उसकी दिव्य प्रेरणाओं के प्रति पर्याप्त रूप से ग्रहणशील है, तब इस विषय में तनिक भी संदेह नहीं हो सकता कि वह अपने हृदय में तथा बाहर सर्वत्र विराजमान भगवान के साक्षात् दर्शन प्राप्त कर सकता है, भले ही वह तत्त्व-चिन्तन सम्बन्धी प्रक्रिया से सर्वथा अनभिज्ञ क्यों न हो। फिर भी यह सत्य ही है कि मनुष्य के लिए अपने अन्तिम गन्तव्य तक पहुँचना अधिक सरल होता है, यदि वह सम्यक् मार्ग के चयन में तथा उस परमात्मा के अनुसन्धान में मिथ्या एवं थोथे विश्वासों और धारणाओं की बाधाओं से ग्रस्त नहीं होता। इसलिए निश्चय ही तत्त्वज्ञान का अनुशीलन लक्ष्य की प्राप्ति में सदा सहायक ही होता है—हाँ, यह आवश्यक है कि साधक उसमें इतना तल्लीन न हो जाय कि आध्यात्मिक साधना के क्रियात्मक पक्ष को ही विस्मृत कर दे।

यह बात स्मरण रहनी चाहिये कि शास्त्रों के श्रवण अथवा पठन द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों की विभिन्न परिभाषायें जान लेना मात्र ही सच्चा ज्ञान नहीं है। अधिक शास्त्र-अध्ययन से प्रायः होता यही है कि जिज्ञासु का शब्द-ज्ञान पर्याप्त विस्तृत हो जाता है परन्तु इतने मात्र से ही आत्मानुभव अथवा किसी उच्च सत्यानुभूति की दिशा में कोई विशेष लाभ नहीं होता। जीव, ब्रह्म, माया, ईश्वर, तेजस, प्राज्ञ तथा हिरण्यगर्भ और अव्याकृत आदि शब्दों की परिभाषाओं मात्र को ही जान लेने पर अपने आप को ज्ञानी

माननना सर्वथा आत्म-वञ्चना ही है। ऐसे ज्ञानी को ही 'वाचक-ज्ञानी' की संज्ञा दी जाती है। ऐसा व्यक्ति परमात्मा की विभिन्न शास्त्रों में दी गयी परिभाषाओं पर ही चर्चाएं करता है किन्तु आध्यात्मिक अनुभव की तो बात ही रहने दें, उसमें सच्ची आध्यात्मिक अभीप्सा भी नहीं होती।

प्रश्न यह है कि आपकी अभीप्सा क्या है, अर्थात आप सत्य की परिभाषा जानने के जिज्ञासु हैं अथवा सत्यानुभूति के? किसी वस्तु की अनुभूति और उपलब्धि में तथा उसकी केवल बौद्धिक जानकारी में महान् अन्तर होता है। इसलिए साधक को पूरी तरह सावधान रहना चाहिये। ऐसा न हो कि वह कहीं शुष्क बौद्धिक-ज्ञान के भोग में ही आसक्त हो जाये और परब्रह्म की सहज अपरोक्षानुभूति की अभीप्सा को ही खो बैठे। तर्क-वितर्क द्वारा किया जाने वाला आत्मा-परमात्मा का मनन अनुभवी महापुरुषों की दृष्टि में व्यर्थ के मानसिक व्यायाम से अधिक और कुछ नहीं होता। अतएव परब्रह्म की अपरोक्षानुभूति तथा उपलब्धि को लक्ष्य में रखकर साधक को तत्त्व-चिन्तन के साथ-साथ भजन और जहाँ तक बन सके, सेवाकार्य भी करना चाहिये।

भक्त अपना हृदय तो भगवान को बड़ी प्रसन्नता से सौंप देता है परन्तु वह अपनी बुद्धि अर्पण करने को तैयार नहीं होता। ज्ञान-मार्ग अवलम्बी अपनी बुद्धि भगवान में लगाता है परन्तु वह अपना हृदय सौंपने को तैयार नहीं होता। अधिक श्रेयस्कर यही है कि हम भगवान के प्रति पूर्णरूप से सत्य-हृदय बनें और अपने 'हृदय' एवं 'मस्तिष्क' दोनों को प्रभु के अर्पण कर दें।

भगवत्प्राप्ति के लिए प्राप्त भाव-शक्ति और ज्ञान-शक्ति का उपयोग करना निस्संदेह श्रेष्ठतर है। परन्तु अपनी भाव-शक्ति, ज्ञान-शक्ति तथा

क्रिया-शक्ति का (तीनों का ही) संयुक्त रूप से प्रभु-प्राप्ति हेतु सदुपयोग करना क्या श्रेष्ठतम नहीं है?

आत्म-समर्पण (Self-Surrender)

समस्त आध्यात्मिक पुरुषार्थ का उद्देश्य परमात्मा को पूर्ण रूप से अधिकृत करना और पूर्ण रूप से परमात्मा द्वारा अधिकृत होना, काल के बन्धन से पूर्णतया मुक्त होना और अपने आप को उस उच्चतम स्थिति तक ऊपर उठा ले जाना है, जहाँ विशुद्ध अनन्त आनन्द, नित्य देदीप्यमान् प्रकाश एवं जीवन और असीम शक्ति आत्मा को परिपूर्ण किये रहते हैं; तथा जहाँ समस्त अज्ञान एवं दुःख और मृत्यु एवं अन्धकार सदैव के लिए अस्तित्व-हीन हो जाते हैं। परन्तु यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है जो किसी भी व्यक्ति द्वारा केवल उसके निस्सहाय और सीमित निज-प्रयत्न से पूरा नहीं किया जा सकता। कबीर के शब्दों में—

“अनेक बन्धन से बांधया एक बिचारा जीव।
अपने बल छूटे नहीं, छोड़नहारा पीव।।”

अधिकतर, निज-प्रयत्न स्वयं कालानुगत एक प्रक्रिया होने के कारण मात्र अपने ही बल से हमें काल के बन्धन से छुटकारा नहीं दिला सकता। परिणामस्वरूप पूर्ण मुक्ति की प्राप्ति के लिए यह एक अनिवार्य आवश्यकता हो जाती है कि कालातीत पुरुषोत्तम कालानुगत क्षेत्र में हस्तक्षेप करे। किन्तु वह पुरुषोत्तम अपरोक्ष एवं अतिसामान्य रूप से (directly and supernormally) तब तक हस्तक्षेप नहीं करता जब तक कि व्यक्ति उसके प्रति बिना किसी शर्त के (unconditional) पूर्ण आत्म-समर्पण नहीं कर देता। यही कारण प्रतीत होता है कि पातञ्जल राजयोग में, जो निज-पुरुषार्थ

को ही विशेष रूप से आधार बनाकर चलता है, ईश्वर-प्रणिधान अथवा परमात्मा के प्रति समर्पण को आध्यात्मिक उपलब्धि हेतु पहले यम-नियम के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लिया गया है।

आत्म-समर्पण का अर्थ, जैसा कि स्पष्ट ही है, उस सभी कुछ को, जो भी हमारे पास है तथा जो भी हम हैं, परात्पर चिन्मय प्रभु के प्रति भेंट चढ़ा देना है। हम अपने आपको भगवान के हाथों में वैसे ही सौंप दें, जैसे संगमरमर का एक टुकड़ा किसी निपुण कलाकार के हाथों में एक अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा बनाने के लिए सौंप दिया जाता है, ताकि वह परम कलाकार परमात्मा उचित काट-छाँट और पूर्ति करके (by pruning and providing) हम को इस जगतरूपी अपनी लीला में प्रयोग के लिए अपना वाँछित (chosen) यन्त्र बना सके, तथा अन्ततोगत्वा पुनः अपने शाश्वत स्वरूप में मिला ले। आत्म-समर्पण हम से इस बात की अपेक्षा करता है कि हम भगवान पर पूरा विश्वास और पूरा भरोसा रखें, यहाँ तक कि हमें वेद की ऋचा के अनुसार अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक यह कहने का साहस हो सके—"हे परमेश्वर! मैं आप पर भरोसा अवश्यमेव करूँगा, भले ही आप मेरा वध क्यों न कर दें!" परन्तु भगवान के प्रति इतनी उच्च्च कोटि का विश्वास और इतनी सुदृढ़ श्रद्धा निष्पन्न करना कोई सहज कार्य नहीं है, और समर्पण-भाव अचानक, एकदम अथवा एक-दो दिन में ही पूर्णता को प्राप्त नहीं हो जाता।

आत्म-समर्पण एक शक्तिशाली संवर्धनशील प्रक्रिया है। धीरे-धीरे और दृढ़तापूर्वक जैसे-जैसे हम आध्यात्मिक साधना में प्रगति करने लगते हैं, समर्पण-भाव हमारे अन्दर उत्तरोत्तर विकसित होने लगता है। आन्तरिक अनुभव जो हम गहरी अन्तर्मुखता द्वारा प्राप्त करते हैं तथा बाह्य घटनायें

जिनमें भगवान हमारी सहायता के लिए आते हैं, हमको भगवान के प्रति श्रद्धा में अधिक-और-अधिक सुदृढ़ बनाते चले जाते हैं। वस्तुतः आत्म-समर्पण इसी गहरी श्रद्धा का परिणाम है। परन्तु सावधान रहियेगा। आत्म-समर्पण के नाम का बहाना लेकर कुछ व्यक्ति आध्यात्मिक साधना के प्रति तामसी वृत्ति वाले तथा प्रमादी बन जाते हैं। "हम स्वयं कुछ नहीं करेंगे, भगवान ही हमारे लिए (केवल परमार्थ के सम्बंध में ही) सभी कुछ करें"—इस प्रकार की वृत्ति यथार्थ आत्म-समर्पण की भावना के सर्वथा विपरीत है। यह देखकर सचमुच आश्चर्य होता है कि इस प्रकार के अध्यात्म सम्बंधी तामसी वृत्ति के लोग आध्यात्मिक साधना के प्रति तो आत्म-समर्पण के नाम पर आलसी बने रहते हैं, परन्तु अधिकाधिक धनवान बनने तथा राजनैतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक उन्नति करने के लिए भरसक प्रयत्न करते चले जाते हैं मानो परमात्मा, जो उन्हें मुक्ति देने में सर्व समर्थ है, उन्हें ऐसे साधारण सांसारिक पदार्थ देने की शक्ति न रखता हो। यह सब भगवान के प्रति सच्ची श्रद्धा एवं सच्चे आत्म-समर्पण की भावना के अभाव का द्योतक है। एक सच्ची श्रद्धा और सच्चे आत्म-समर्पण की धारणा वाला व्यक्ति यह कहेगा—"मैं अपनी मानवी बुद्धिमत्ता अथवा अपने मानवी बल के आधार पर तो नहीं परन्तु परमात्मा के बल पर सब कुछ कर सकता हूँ।" एक सरल और आज्ञाकारी बालक इधर-उधर चेष्टाएं करता है किन्तु उसके हृदय की गहराई में सदा यह भाव छिपा रहता है कि उसकी एक मां भी है जो हर समय तथा हर परिस्थिति में उसकी रक्षा करने को तत्पर है, जो प्रतिक्षण उस पर अपना प्रेम रखे हुए है। इसी भावना से प्रभु के प्रति आत्म-दान किया हुआ साधक भी अपनी साधना करता है। वह अपनी

सांसारिक जिम्मेदारियों को तो अवश्य पूरा करता है; अन्य व्यवहार व चेष्टाएं भी करता है, किन्तु वह इन सबके लिये पूर्ण रूप से परमात्मा के प्रेम और उनकी सुरक्षा पर ही निर्भर करता है। ऐसा साधक अपना प्रत्येक कार्य अहंकार द्वारा नहीं बल्कि भगवद्प्रेरणा द्वारा करता है। अथवा यों कहें कि ऐसे साधक के सभी आध्यात्मिक तथा सांसारिक कार्य वास्तव में दिव्य शक्ति द्वारा ही संपादित होते हैं। आध्यात्मिकता की उच्च अवस्था में आरूढ़ होकर उसका पूरा जीवन 'व्यावहारिक योग' में रूपान्तरित हो जाता है तथा परमात्मा और जगत में पूर्ण सामन्जस्य स्थापित हो कर वे एकाकार हो जाते हैं। पूरी तरह परमात्मा से ओत-प्रोत तथा परमात्मा में प्रतिष्ठित होकर ऐसा साधक केवल और केवल परमात्मा में ही जीता है, परमात्मा में ही गति करता है। ऐसा इसलिये सम्भव हो पाता है क्योंकि साधक द्वारा पूर्ण आत्म-समर्पण साधक के व्यक्तिगत अस्तित्व को विलीन करके उसे भगवान के दोनों स्वरूपों—उनके मौलिक निष्क्रिय स्वरूप तथा उनके दिव्य सार्वभौम सक्रिय स्वरूप—से सयुंक्त कर देता है—

"सुनु मुनि तोहि कहउं सहरोसा।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।।
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई।
तहं राखइ जननी अरगाई।।
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता।
प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता।।
मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी।
बालक सुत सम दास अमानी।।
यह विचारि पण्डित मोहि भजहीं।
पाएहुँ ज्ञान भगति नहिं तजहीं।।" (रामचरितमानस)

सच्ची बात तो यह है कि पूर्ण आत्म-समर्पण की अवस्था में साधक द्वारा जो भी व्यवहार अथवा साधन होता हुआ दीखता है वह सब भागवती शक्ति ही सम्पादित करती है। व्यवहार और साधन का भी भेद मिट कर उसका समस्त जीवन साधनमय एवं प्रभुमय ही बन जाता है। यह आत्म-समर्पण की ही महिमा है।

जिस समय आप यह मानने लगते हैं कि कोई वस्तु भी आपकी नहीं है, उस समय समस्त वस्तुएँ बिना बुलाये ही आपके पास भाग के आना चाहती हैं तथा आती हैं। जिस समय आप प्राप्त शक्ति पर स्वत्व-भाव का परित्याग कर देते हैं, उस समय भगवान की निःसीम शक्ति आपके अन्दर प्रवाहित होने लगती है। जब आपका मन सांसारिक इच्छाओं से मुक्त होता है तो परमात्मा के प्रेम से भर जाता है। वही शक्ति जो सांसारिक इच्छा बनती है, सांसारिक इच्छा तिरोहित होने से भगवद्प्रेम में रूपान्तरित हो जाती है। जब आपके हृदय से सांसारिक पदार्थ-परिस्थितियों और प्राणियों का दुःख-मूलक मोह सर्वथा छूट जाता है, तब आपके अन्दर भगवान के परमानन्द स्वरूप निःसीम प्रेम का स्रोत फूट पड़ता है। अपने आप को आप भगवान के प्रति सौंप दीजिये, तो भगवान **"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहं"** के अनुसार अपने आप को आपके प्रति सौंप देंगे। तब भला भगवान के प्रति आत्म-समर्पण करने से आप कौन-से घाटे में रहते हैं?

जितना अधिक आप परमात्मा के प्रति अपने आपको उत्सर्ग करेंगे उतनी ही अधिक भगवद्इच्छा तथा भगवद्शक्ति आप में सक्रिय व अभिव्यक्त होगी। ऐसा होना अनिवार्य है; क्योंकि आप की ओर से किया गया आत्म-समर्पण आप में असीम भागवती शक्ति की सक्रियता को सम्भव कर देता है, जो सहज में ही आपकी निम्न प्रकृति का रूपान्तरण कर देती

है तथा आपको आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर सुचारु रूप से तथा दृढ़तापूर्वक चलाती है।

स्मरण रखिये। भगवान के प्रति सच्चा समर्पण-भाव व्यक्ति के जीवन को अवश्यमेव निर्मल और दिव्य बनाकर उसे सक्रिय आनन्द से परिपूर्ण कर देता है।

आइये, हम परमात्मा के प्रति अपने आपको समर्पण करना सीखें! भगवान हमारी सहायता करें और हमें अधिकाधिक अपने समीप खींच लें!

अध्यवसाय (Perseverance)

हालांकि उच्चतम आध्यात्मिक अनुभव की झलक साधक को अत्यल्प काल में अथवा अकस्मात् भी मिल सकती है किन्तु यह स्थायी नहीं होती। पूर्ण आध्यात्मिक उपलब्धि प्रायः सरलता और क्षिप्रता से निष्पन्न नहीं होती तथा इसकी प्राप्ति में बड़ी लम्बी कालावधि, कई जन्म, यहाँ तक कि कई युग भी, व्यतीत हो सकते हैं। शास्त्र की इस सम्बन्ध में **बहुनां जन्मनामन्ते** तथा **अनेकजन्मसंसिद्धः** वाली उक्तियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं। कृपा-पात्र साधक को परमात्मा का अनुभव पहले-पहले प्रायः अकस्मात् और अप्रत्याशित रूप से (suddenly and unexpectedly) ही हुआ करता है। यह अनुभव चाहे सीधा स्वयं भगवत्-अनुग्रह से प्राप्त हो, अथवा किसी शक्तिपात करने की योग्यता रखने वाले पूर्ण योगी के रूपान्तरकारी दिव्य संस्पर्श द्वारा, अथवा इसके अतिरिक्त भगवान के अनुसन्धान में लगे हुए साधक की दीर्घकाल की सम्यक् आध्यात्मिक साधना द्वारा भी यह उपलब्ध हो सकता है। परन्तु यह अनुभव जो प्रथम बार होता है, एक अस्थायी झलक मात्र (a temporary glimpse) होती है जो तुरन्त ही विलीन हो जाती है। पूर्ण आध्यात्मिक उपलब्धि की तो बात ही रहने दीजिये, यह प्रथम बार हुआ अनुभव 'पूर्ण साक्षात्कार' भी नहीं होता।

'भगवद्-साक्षात्कार '(God-Realization)' का अर्थ है–'भगवद्-अनुभव की अस्थायी झलक (temporary glimpse)' का साधक के व्यक्तित्व के सभी अंगों यथा–शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि में व्याप्त हो जाना। किन्तु भगवद्-उपलब्धि अथवा 'पूर्णता' (Fullfilment) का अर्थ है–भगवद्-साक्षात्कार (God-Realization) का साधक के पूरे व्यक्तित्व में दृढ़भूमि तथा स्थायी रूप से प्रतिष्ठित हो जाना। 'भगवद्-साक्षात्कार' तथा 'आध्यात्मिक-उपलब्धि या पूर्णता', दोनों ही के लिये दीर्घकालीन कठोर व सतत् साधना की अपेक्षा है–

"प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।" (गीता 6.45)

जिज्ञासु का अपनी ओर से स्वयं पुरुषार्थ न करके केवल गुरु अथवा किसी पूर्ण योगी के दिव्य रूपान्तरकारी संस्पर्श द्वारा ही भगवदानुभव प्राप्त कर लेने की आशा करना तो अनुचित आशावादिता में व्यर्थ का सन्तोष मात्र होगा। पहली बात तो यह है कि ऐसे परम महान् योगी होते ही अत्यन्त विरले हैं, जो मात्र अपनी शक्ति से ही भगवदानुभव करा देने की क्षमता रखते हों। दूसरा यह कि जो ऐसे सक्षम महात्मा होते हैं, वे प्रायः अपने आप को गुप्त ही रखते हैं और अपनी इस शक्ति का प्रदर्शन साधारणतया कदापि नहीं करते। अतः उनका पता लगना अथवा उनका पता लग जाने पर भी उनके पास से भगवदानुभव रूपी प्रसाद प्राप्त कर लेना सरल नहीं होता। आध्यात्मिक अनुभव कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो चाँदी के टकों के बदले में खरीदी जा सके। आज के समय में कुछ ऐसे योग-शिक्षक व तथाकथित गुरु भी हैं जो भगवान, धर्म और योग का व्यवसायीकरण करने पर तुले हैं। वे इस बात का दावा करते हैं कि अपने चमत्कारी स्पर्श मात्र

से ही वे व्यक्ति का रूपान्तरण कर सकते हैं तथा एक दिन, बल्कि एक मिनट में ही किसी को भी भगवद्-साक्षात्कार करा सकते हैं। स्मरण रहे, ऐसे लोगो में से नब्बे प्रतिशत लोग ढोंगी और ठग होते हैं। अतएव इसी भरोसे पर कदापि नहीं बैठे रहना चाहिये कि एक दिन कोई सिद्ध महापुरुष स्वयं चल कर हमारे पास आयेगा तथा हमारे द्वारा बिना पुरुषार्थ किये, बिना आत्मानुशासन अपनाए तथा बिना दीर्घकालीन ध्यान-भजन किये, केवल अपनी शक्ति से हमें आत्म-दर्शन करा देगा। परमात्मा की तो एक झलक मात्र पाने के लिये साधक को सत्य-हृदय बनकर दीर्घकालीन व कठोर साधना करने की आवश्यकता होती है तथा करनी ही चाहिये।

यह आध्यात्मिक साधना निरन्तर फूलों की सेज पर चलने के समान नहीं होती। भगवत्प्राप्ति के मार्ग को शास्त्र में कहीं-कहीं छुरे की तीखी धार के समान बताया गया है, जिस पर चलना सहज नहीं होता—

"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम पथस्तत्कवयो वदन्ति।।"

(कठोप॰ 1.3.14)

रहस्यवादी परमसंत कबीरजी ने भी साधना को एक अत्यन्त कठिन संग्राम की उपमा दी है। वे कहते हैं कि जलती चिता में बैठ कर एक सती स्त्री का स्वेच्छापूर्वक प्रसन्नता से सती हो जाना अथवा एक योद्धा शूरवीर का रणभूमि में प्रसन्नतापूर्वक युद्ध करते-करते प्राणों को त्याग देना इतना कठिन नहीं है जितना कि आध्यात्मिक साधना का कार्य अथवा मार्ग कठिन है तथा उसका पथिक बनना कठिन है। उनके शब्द हैं—

**"साध संग्राम है विकट बेड़ा, जती सती और सूर की चाल आगे।
सती घमसान है पल एक का, सूर घमसान पल चार लागे ।।
साध संग्राम है रैन दिन जूझना, देह पर्यन्त का काम भाई ।
कहे कबीर टुक बाग ढीली करे, मन तुरत असमाँ से जिमिं आई ।।"**

अर्थात् सती का साधना-संग्राम तो इसलिए अधिक कठिन नहीं है क्योंकि वहाँ पर सती स्त्री को केवल एक पल के लिए ही मन पर संयम करना होता है। जब चिता में आग लग जाती है तो शरीर उसमें जलकर तुरन्त ही भस्मीभूत हो जाता है और सती की साधना-संग्राम में विजय हो जाती है। इसी प्रकार एक योद्धा का संग्राम भी इतना अधिक कठिन नहीं माना गया क्योंकि वहाँ पर चार-छः पल का ही खेल होता है, जिसमें योद्धा मार देता है अथवा मर जाता है। परन्तु आध्यात्मिक साधना-संग्राम तो पता नहीं कब पूर्ण तथा सफल हो! इसलिये आध्यात्मिक-साधना की तुलना एक ऐसे संग्राम से की गयी है जिसमें साधक से समर-भूमि में जूझ रहे योद्धा की अपेक्षा निश्चित रूप से कहीं अधिक कठिन आत्मानुशासन, समझदारी, वीरता, धैर्य तथा सतत् सजगता की अपेक्षा होती है। आध्यात्मिक रणभूमि में साधक रूपी योद्धा को पग-पग पर अत्यधिक सजग, सावधान और साथ ही साथ अत्यधिक सक्रिय रहना पड़ता है। प्रतिक्षण साधक को चुनाव करना पड़ता है—'शाश्वत' और 'नश्वर' के मध्य चुनाव। पुनः-पुनः और बारीकी से उसे अपनी अभिरुचि, भावना और मनोवृत्ति का निरीक्षण करना पड़ता है। उसे बहुत ही सावधानीपूर्वक साधन करना पड़ता है ताकि साधन-रूपी क्रिया-कलाप कहीं यांत्रिक पुनरावृत्ति न बन कर रह जायें। सजगता विहीन यान्त्रिक प्रयास तो सदा ही निष्फल होता है।

साधना सभी समय और परिस्थितियों में सरल और सुचारु रूप से नहीं चलती। इसलिये जरा सी भी असावधानी, अकर्मण्यता तथा आलस्य आध्यात्मिक दृष्टि से साधक के लिये इतने हानिकारक हो सकते हैं कि उसका आध्यात्मिक आरोहण ही बाधित हो सकता है। आपकी भगवद्-भावना में तनिक सा भी व्याभिचार आया नहीं कि तत्काल आपका पतन हो जाता

है। जरा सी भी सांसारिकता आपके हृदय में घुसी नहीं कि यह निश्चित रूप से भजन-साधन से आपके द्वारा प्राप्त आध्यात्मिक स्थिति से आपको नीचे उतार लायेगी। प्रत्येक सांसारिक पद-पदार्थ-परिस्थिति की प्राप्ति का अर्थ आवश्यक रूप से आध्यात्मिक हानि नहीं है, किन्तु किसी भी सांसारिक पद-पदार्थ-परिस्थिति की प्राप्ति की इच्छा रखना निश्चित ही उस शाश्वत परम तत्व की प्राप्ति की अभीप्सा में कमी लाता है। जैसे ही आप सांसारिक सुखों में रस लेने लगते हैं वैसे ही आप भगवान के दिव्य, सक्रिय आनन्द से वंचित हो जाते है। जितना अधिक साधक दैहिक सुखों के प्रलोभनों की ओर आकृष्ट होता है उतना ही अधिक वह भागवतीय आवाहन (call from the Divine) के प्रति असंवेदनशीन व बन्द होता चला जाता है। ऐसा क्यों है, भगवान ही जानें! लेकिन यह एक तथ्य है। "मृत्यु का वरण करने से ही आप शाश्वता में पुनर्जीवित होते है। (Die and come to life)"—यही भगवान का अटल व बलवान नियम है। इसलिए इस मार्ग को अधिकतम कठिन कहा जाता है। इस मार्ग के अधिकतर भाग में क्रम से बदलते हुए उतार-चढ़ाव तथा उत्थान-पतन की स्थितियाँ आती हैं। साधन-पथ पर बीच-बीच में नीरसता-शुष्कता तथा उदासीनता वाली अवस्थाएं आती रहती हैं। अनेक प्रकार के व्यवधान व अति कठिन परीक्षा की घड़ियां भी उपस्थित होकर साधक को हतोत्साहित करती रहती हैं। इन सब बाधाओं के बीच भी साधक से सतत् अध्यवसाय युक्त होकर साधना करते रहने की अपेक्षा होती है।

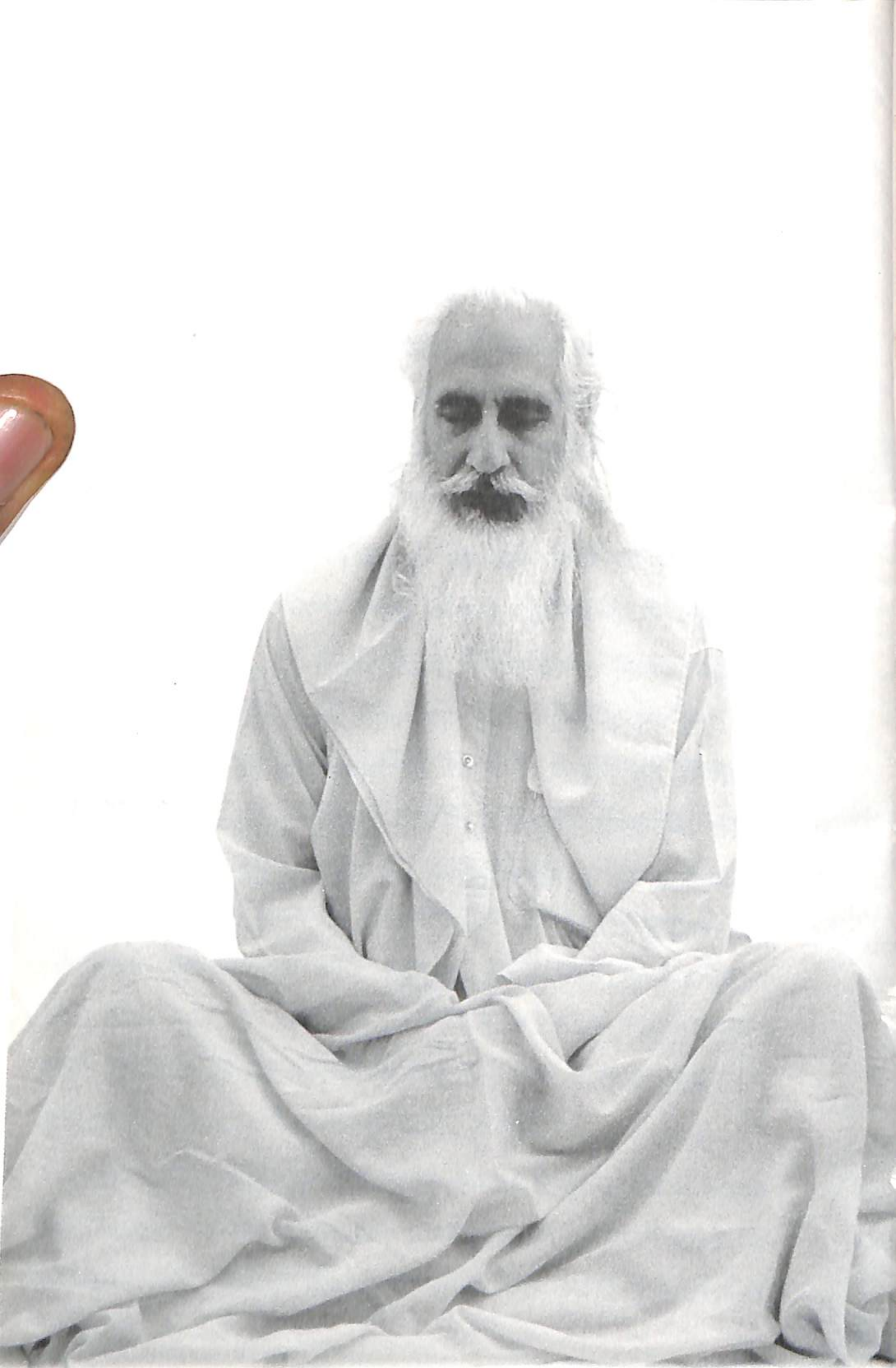
एक श्रेष्ठ साधक दृढ़ तथा अटल संकल्प से युक्त होकर अर्थात "करो या मरो" की भावना से अपने आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ने को सदा तत्पर रहता है। "परमात्मा के साक्षात्कार तथा उसकी पूर्ण उपलब्धि

करने में चाहे मुझे एक क्षण लगे अथवा अनेक जन्म ही क्यों न व्यतीत हो जावें, चाहे मुझे कितनी भी महान् कठिनाइयों का सामना करना पड़े, मैं उस समय तक चैन नहीं लूँगा, जब तक कि भगवान को प्राप्त नहीं कर लूँगा—ऐसी दृढ़ धारणा ही अध्यवसाय का वास्तविक लक्षण है और केवल वही साधक जो ऐसे सुदृढ़ अध्यवसाय की भावना से युक्त है, परात्पर पुरुषोत्तम की प्राप्ति कर सकता है। परमसंत स्वामी रामतीर्थ के शब्दों में कहें तो पूर्ण अध्यवसाय से युक्त साधक निम्नोक्त धारणा को लेकर भगवान की ओर बढ़ेगा—

"बैठे हैं तेरे दर पे तो कुछ कर के उठेंगे।
या वस्ल ही हो जायेगा, या मरके उठेंगे ।।"

सावधान रहिये! अध्यवसाय को मिथ्या सन्तोष (complacence) समझने की भूल मत करियेगा। अध्यवसाय साधक से यह अपेक्षा करता है कि वह अत्यन्त दृढ़ निश्चय के साथ और महान् स्थैर्य-धैर्य को धारण करके समस्त कठिनाइयों में,निराश करने वाले अवसरों में तथा साधना की शिथिल अवस्थाओं में भी हतोत्साहित न बने और आध्यात्मिक साधना करता चला जाये।

ॐ! ॐ!! ॐ!!!



आध्यात्मिक ध्यान एवं चिन्तन



आध्यात्मिक ध्यान एवं चिन्तन

पूर्ण आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक मानसिक और नैतिक योग्यताओं का संक्षेप में विवरण देने के पश्चात् अब हम अति महत्त्वपूर्ण मुख्य विषय—आध्यात्मिक ध्यान के बारे में विचार-विमर्श करेंगे। इसका उद्देश्य हमें मानसिक चेतना से ऊपर उठाकर भगवान के अतिमानसिक अपरोक्ष अनुभव की ओर ले जाना है। अपनी पूर्ण पराकाष्ठा को प्राप्त ध्यान की प्रक्रिया हमें भागवती चेतना में तनाव-रहित सहज विश्राम की स्थिति में ले जाती है, अथवा उस द्रष्टा-आत्मा में प्रयास-रहित सहज विलय की ओर ले जाती है, जो गम्भीर नीरवता की प्रशान्त अवस्था में अपने ही विशुद्ध चिन्मय प्रकाश में भासमान होता रहता है। इस अवस्था में विचार करना, संकल्प करना, सापेक्ष रूप से जानना या प्रतीत करना आदि अन्तःकरण की समस्त चेष्टायें समाप्त हो जाती हैं। ध्यान-योग-गम्य इस निर्विकल्प निर्गुण स्थिति के प्रति ही योग दर्शन में **"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"** के सूत्र द्वारा तथा कठोपनिषद् में निम्न मन्त्र द्वारा निर्देश किया गया है—

"यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।।" (कठोप० 2. 3.10)

शुद्ध आध्यात्मिक अनुभव निविर्षय आध्यात्मिक एकाग्रता के बिना निष्पन्न नहीं होता। और ऐसा केवल ज्ञाता, ज्ञान (सापेक्ष ज्ञान) तथा ज्ञेय

की त्रिपुटी के सिकुड़ कर 'बिन्दु' में संकोच होने से सम्भव होता है। यह बिन्दु स्वयं आगे चलकर चिदाकाश के असीम सागर में लय हो जाता है। आध्यात्मिक अनुभव की यही वह उच्चतम सम्भव स्थिति है, जहाँ पर हमें सम्यक् ध्यान-अभ्यास ले जा सकते हैं। इसके उपरान्त चेतना में जो विशालतम एवं अति उच्च उद्घाटन घटित होता है वह स्वयं भागवती कृपा द्वारा उस साधक के अन्दर ही सम्पादित किया जाता है जो द्रष्टा आत्मा में निर्विकल्प स्थिति को ही अन्तिम स्थिति मानकर उसमें संतुष्ट नहीं रहता, और जो भगवान के प्रति समर्पण-भाव से भावित होकर विनम्र तथा ग्रहणशील बना रहता है। सिद्धान्त सिद्धान्त ही होता है और अभ्यास अभ्यास ही। शब्द आखिर शब्द ही होते हैं; वे पदार्थ नहीं होते, जिनके लिए उन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। 'भगवान' शब्द से ही पता नहीं चलता कि भगवान क्या हैं। इसी प्रकार चेतना की उस अवस्था को जिसमें द्रष्टा आत्मा स्वयं में स्थित हो जाता है, अथवा पुरुषोत्तम स्थिति को, मात्र शब्दों द्वारा समझाया नहीं जा सकता चाहे वे शब्द कितने ही सही व सटीक क्यों न हों। अतएव इस निर्गुण द्रष्टा आत्मा में स्थिति की महानता और सुन्दरता को, वह जो-जैसी भी हो, हम पाठक पर ही छोड़ते हैं कि वह सम्यक् ध्यान-अभ्यास द्वारा स्वयं उसे अनुभव करे।

आध्यात्मिक ध्यान का क्या अर्थ है तथा इसको साधने की विधि अथवा प्रक्रिया क्या है? आध्यात्मिक ध्यान का अर्थ है आत्मा की बिखरी हुई समस्त शक्तियों और क्षमताओं को एक मात्र परमात्मा की अपरोक्ष अनुभूति ही के लिए, एकत्र करना तथा उनको परमात्मा पर केन्द्रित करना।

ध्यान-योग की समस्त विधियों को मुख्य रूप से दो वर्गों में बांटा जा सकता है—स्वीकारात्मक (positive) और निषेधात्मक (negative)। इन

दोनों विधियों में प्रत्येक में दो-दो आन्तरिक चेष्टायें सम्बद्ध होती हैं। इन में एक निष्क्रिय (passive) होती है और दूसरी सक्रिय (active)। ध्यान-अभ्यास में इन दोनों चेष्टाओं का एक ही साथ प्रयोग करना होता है। स्वीकारात्मक विधि (positive method) में ये दो चेष्टायें हैं—'धारणा' (fixing) और 'अवलोकन'(watching) तथा निषेधात्मक विधि (negative method) में ये दो चेष्टायें हैं— 'निरोध अथवा अस्वीकरण/अस्वीकार करना' (stopping or rejecting) और 'अवलोकन' (watching)। अथवा, दूसरे शब्दों में यों कहिये कि दोनों विधियों में ही मानसिक चेतना को मानो दो भागों— निष्क्रिय और सक्रिय में विभाजित कर लेना होता है, जिनमें सक्रिय अंश तो कुछ कार्य करता रहता है और निष्क्रिय अंश कुछ भी क्रिया नहीं करता, केवल सक्रिय अंश द्वारा सम्पादित किये जा रहे कार्य को जागरूक रहकर देखता रहता है। मानसिक चेतना के इन अंशों में क्रिया करने वाला तो अपरा प्रकृति का अंश होता है और देखने वाला परा प्रकृति रूप चेतन-अंश। आइये, इन दोनों विधियों को अधिक स्पष्ट करें।

पहली निषेधात्मक विधि (Negative Method)

आध्यात्मिक एकाग्रता (ध्यान) की निषेधात्मक विधि को समझना सर्वथा सरल है। इसके अनुसार सभी प्रकार के आवेगों (emotions), वृत्तियों (moods) तथा कल्पनाओं (ideations) को, जो अपने चित्त से मन में उदय होती हैं, अथवा उन संकल्पों और सुझावों (suggestions) को, जो बाहर से अर्थात् समष्टि चित्त से आकर मन से टकराते हैं, अथवा विषयों के मन से सम्पर्क होने के कारण मन में उदय होते हैं या आते हैं—तुरन्त ही उसी समय अस्वीकार कर देना और हटा देना होता है, जैसे ही वे उदय हों अथवा आवें। इसके साथ ही साथ यह भी जागरूक होकर

देखते रहना होता है कि 'निरोध अथवा अस्वीकरण' की यह क्रिया सुचारु रूप से चल रही है तथा मानसिक चेतना का सक्रिय अंश कहीं 'निरोध अथवा अस्वीकरण' के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु पर विचार करने, उसके प्रति संकल्प-विकल्प करने अथवा उसे प्रतीत करने में तो नहीं लग गया है।

जब कोई साधक अभ्यास द्वारा इस प्रकार से प्रगति करता है, तो धीरे-धीरे ये आन्तरिक और बाह्य 'आक्रमण' (attacks) कमजोर पड़ने लगते हैं और न्यून होते-होते अन्ततोगत्वा शून्य प्रभाव वाले हो जाते हैं। अन्तिम अवस्था में 'अस्वीकार करने और हटाने' की वृत्ति को भी त्याग देना होता है। इस प्रकार के पुनः-पुनः किये गये सतत् अभ्यास द्वारा प्रयास-रहित सहज एकाग्रता की वह स्थिति प्राप्त हो जाती है, जहाँ मन की समस्त चेष्टाओं का उन्मूलन हो जाता है तथा इसकी सभी वृत्तियों का बाध हो जाता है। अर्थात्, चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है और चेतना अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकाशमान रहती है। ऐसी स्थिति के विषय में कहा जा सकता है कि द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति हो गई है। इस स्थिति में किसी आन्तरिक अथवा बाह्य दृश्य पदार्थ का—यहाँ तक कि मन की शून्यता अथवा सुषुप्ति अवस्था का भी अस्तित्व नहीं रहता। यही स्थिति है, जिस में आत्मा (अर्थात अपना आप), अपने विशुद्ध स्वरूप में अपने को नित्य, निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र सत्तावाला, अपने अस्तित्व के लिए मन की अपेक्षा से रहित, समस्त द्वन्द्वों से मुक्त (क्योंकि द्वन्द्वों का वहाँ सर्वथा अभाव होता है), निष्क्रिय (क्योंकि अन्तःकरण की समस्त वृत्तियां जिनके तादाम्य के कारण वह अपने आपको सक्रिय प्रतीत करता है, वहाँ शान्त हो जाती हैं), असंग, अलिप्त तथा अचल अनुभव करता है। संक्षेप में, यह भी

यहाँ कह देना चाहिये कि आध्यात्मिक अनुभूति के क्षेत्र में यह एकमात्र अनुभव नहीं है, उच्चतम भी नहीं।

दूसरी स्वीकारात्मक विधि (Positive Method)

जहाँ तक ध्यान की स्वीकारात्मक विधि का सम्बंध है, जिस में 'धारणा' (fixing) का अभ्यास करना होता है, यह पूछा जा सकता है—मन को किस पदार्थ पर स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिये? हम अपना मन उस परमात्मा पर किस प्रकार स्थिर कर सकते हैं जिसको हमने कभी देखा नहीं है अथवा जिसको हम जानते ही नहीं हैं?

ठीक है, इस पद्धति में मन को एकाग्रता हेतु आधार देने के लिए प्रतीकों अथवा प्रतिरूपों (symbols or images) का सहारा अवश्यमेव लेना होता है। प्रत्येक व्यक्ति को एकाग्रता की निष्पत्ति के लिए किसी प्रतिरूप अथवा प्रतीक का प्रयोग किसी न किसी रूप में करना ही पड़ता है। 'धारणा' का अभ्यास इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है। यह प्रतिरूप अथवा प्रतीक सम्भवतः रूप, नाम तथा वृत्ति, अर्थात् विचार या भावना (form, name and idea including feeling) की तीन श्रेणियों के अन्तर्गत लाये जा सकते हैं।

यह निस्संदेह सत्य है कि ध्यान की स्वीकारात्मक पद्धति की 'धारणा' वाली विधि निषेधात्मक पद्धति की 'निरोध अथवा अस्वीकरण' वाली विधि से अपेक्षाकृत अधिक सरल होती है। इस बात को मकड़ी के उदाहरण द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। मकड़ी जो एक तार द्वारा, जिसे उसने अपने ही अन्दर से बाहर निकाला होता है, नीचे आती है, वह उसी तार की सहायता से ऊपर अपने स्थान पर चली जाती है और तत्पश्चात् उस तार को अपने अन्दर खींच लेती है। इसी प्रकार व्यक्ति जो अपनी

स्वरूपभूत शान्ति एवं निश्चलता की स्थिति से वृत्ति, नाम और रूप द्वारा बहिर्मुखी हुआ होता है, वह इन्हीं (नाम, रूप और वृत्ति) की सहायता से ही अत्यधिक सरलता से अपनी स्वरूपभूत शान्त स्थिति में पुनः अवस्थित हो सकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य का मन इस नाम, रूप और वृत्ति वाले संसार के ही समस्त दिन-प्रतिदिन के कार्यों में सदैव व्यस्त रहता है और सहसा यह सम्भव और व्यावहारिक नहीं होता कि मन को इन वृत्तियों से मुक्त किया जा सके। उचित मार्ग यही है कि मन को किसी एक रूप अथवा किसी एक नाम अथवा किसी एक वृत्ति पर स्थिर करने का अभ्यास किया जावे। एकाग्रता की प्राप्ति हेतु प्रयोग में लाया गया ऐसा कोई नाम अथवा रूप अथवा वृत्ति ध्यान की अन्तिम अवस्था में उस परम सत्ता का, जिसका कि वह प्रतीक अथवा प्रतिरूप होता है, अपरोक्ष अनुभव करा के अपने आप लुप्त हो जाता है।

दिव्य रूप अवलम्बन के रूप में

किसी रूप पर मन को एकाग्र करने की इस पद्धति में कोई रूपवाली वस्तु, जैसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, आकाश आदि को अथवा अपने प्रिय इष्टदेव के दिव्य रूप को अथवा भगवदावतार या किसी पैगम्बर या किसी महान् सन्त को ध्यान-अभ्यास में मन को अवलम्बन देने के लिए चुन लिया जाता है। अपने इष्टदेव पर मन को एकाग्र करना भक्तिभाव प्रधान व्यक्तियों के लिए अधिक सरल होता है और साथ ही अधिक फलप्रद भी, क्योंकि इससे इष्टदेव स्वयं अपने भक्त की सहायता करते हैं तथा उसका सब प्रकार से पोषण करते हैं। अन्य व्यक्ति जिनमें पर्याप्त धार्मिक निष्ठा और भक्तिभाव नहीं है, सूर्य, चन्द्रमा अथवा किसी अन्य पदार्थ को—अधिक

अच्छा हो, यदि यह पदार्थ ज्योतिर्मय हो—मन के अवलम्बन के रूप में वरण कर सकते हैं। इस प्रकार वरण किये गये पदार्थ को कल्पना द्वारा अपने अन्दर देखना होता है और मन को अधिकाधिक समय तक स्थिरतापूर्वक उस प्रतिरूप पर टिकाया जाता है। शरीर के अन्दर उपयुक्त केन्द्र अथवा स्थान जहाँ पर कि इष्ट वस्तु के रूप की धारणा की जाती है, भृकुटि के मध्य में वह बिन्दु है, जिसे योग शास्त्र की भाषा में 'आज्ञा चक्र' कहा गया है।

दिव्य नाम अथवा शब्दरूपी अवलम्बन

एकाग्रता के लिए दूसरा अवलम्बन जो मन को दिया जा सकता है, वह है दिव्य नाम अथवा शब्द। अब हम इसकी चर्चा करेंगे। यह अवलम्बन नाम के रूप में अथवा मन्त्र के रूप में भी हो सकता है। मन्त्र वह फॉर्मूला अर्थात् सार्थक सूत्र होता है, जो परमात्मा के अस्तित्व को किसी न किसी रूप में स्वीकार करने वाला होता है तथा परमात्मा सम्बन्धी किसी विचार या भाव—जैसे भगवान के प्रति आत्म-समर्पण के भाव से, भगवत्-उपस्थिति के भाव से अथवा परमात्मा के प्रति की गई स्तुति से युक्त प्रार्थनामय भक्तिभाव—से भावित होता है। अपनी श्रद्धा एवं विश्वास के अनुसार भगवान के किसी नाम को अथवा मन्त्र या सूत्र को अभ्यास हेतु चुन लिया जाता है। इस नाम अथवा मन्त्र की धीरे-धीरे और शान्तिपूर्वक मन ही मन अथवा वाणी द्वारा पुनरावृत्ति करनी होती है तथा चेतना को इस 'नाम' अथवा मन्त्र के सुनने में केन्द्रित करना होता है। इस अभ्यास को 'जाप' कहते हैं। विज्ञान भले ही आज इस बात को सिद्ध न कर सके, तर्कशास्त्र भी उसकी परिपुष्टि करने में भले ही असफल क्यों न रहे, परन्तु अनुभव

द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि भगवन्नाम के स्वरपूर्ण उच्चारण और जाप में मन को उस परमात्मा के साथ, जो सब कुछ है और सब कुछ से परे भी है, जोड़ने का आश्चर्यजनक प्रभाव और शक्ति है।

"भगवान के नाम में महान् शक्ति निहित है और इस 'नाम' के माध्यम से उस व्यक्ति में, जो श्रद्धापूर्वक और सच्चे हृदय से एकाग्र चित्त होकर उसका जाप करता है, भगवत्कृपा अवश्यमेव अवतरित होती है।"—यह एक ऐसा सत्य है, जिसकी बारम्बार परिपुष्टि सभी धार्मिक सम्प्रदायों के पुनीत सन्तों ने एक स्वर होकर की है।

भगवन्नाम अथवा मन्त्र पर एकाग्रता के अभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान वह 'हृदय-चक्र' है, जिसकी समता शरीर-विज्ञान में 'Cardiac Centre' से की जाती है तथा जिसको योग में 'अनाहत-चक्र' की संज्ञा दी गई है। यहाँ पर यह संकेत कर देना उचित है कि अभ्यास के लिए मन्त्र अथवा नाम या शब्द जितना ही संक्षिप्त होगा, उतना ही अधिक श्रेयस्कर होगा, क्योंकि संक्षिप्त मन्त्र पर मन को एकाग्र करना अधिक सरल होता है।

श्वासोच्छ्वास की लयबद्ध गति के साथ भी मन्त्र अथवा नाम को जोड़कर उसका जाप किया जा सकता है। परन्तु अभ्यास की इस विधि में जाप के समय वृत्ति को 'मणिपुर' अर्थात् नाभि-चक्र पर केन्द्रित नहीं करना चाहिये क्योंकि मणिपुर-चक्र प्राण-शक्ति अथवा क्रिया-शक्ति का केन्द्र है तथा इस अभ्यास द्वारा प्राण-पुरुष अत्यन्त सक्रिय हो जाता है और इससे प्रचण्ड शक्ति-उत्तेजना का उत्पन्न होना, यहां तक कि अचानक विस्फोट होना भी सम्भव है। यदि साधक की विवेक-शक्ति पर्याप्त विकसित नहीं है, यदि उसको अपने मन और इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण नहीं है तथा यदि

वह भगवत्प्राप्ति के परम लक्ष्य के प्रति अनन्य नहीं है, तो प्राण-शक्ति का अत्यधिक जागरण उसकी साधना को पथ-भ्रष्ट कर सकता है। अतएव जब तक 'हृदय-चक्र' और 'आज्ञा-चक्र' का पर्याप्त संशोधन और विकास नहीं हो जाता, तब तक श्वासोच्छ्वास के साथ जाप करते हुए 'नाभि-चक्र' पर वृत्ति को एकाग्र करने का अभ्यास करना उचित नहीं है। यह अभ्यास प्रत्येक साधक को नहीं करना चाहिये। यदि कोई साधक श्वासोच्छ्वास के साथ जोड़कर जाप करना चाहे तो फिर उसे अपनी वृत्ति को 'हृदय-चक्र' पर केन्द्रित रखना चाहिये। इसमें कोई जोखिम नहीं है।

जपयोग का अभ्यास—भले ही वह 'ध्यान योग' की अन्य पद्धतियों का अनुसरण किये बिना ही क्यों न किया जाय—अकेला ही सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति तक ले जा सकता है। वस्तुतः जाप स्वयं ही आगे जाकर प्रगाढ़ सक्रिय ध्यान का रूप धारण कर लेता है। सक्रिय ध्यान होने के नाते इसके द्वारा जीवन में अद्भुत रूपान्तरण होता है। यही कारण है कि इतिहास में ऐसे प्रसंग बहुत मिलते हैं, जहाँ बड़े-बड़े डाकू और दुष्ट व्यक्ति भी एकाग्र चित्त होकर नाम-जाप करने से महान् सन्त बन गये। प्रभु-नाम-जाप अथवा मन्त्र-जाप एक अत्यन्त सरल किन्तु अति प्रभावशाली दिव्य अभ्यास है। ऐसे अनेक सन्त और भक्त हुए हैं, जिन्होंने साधना की अन्य किसी भी विधि को न अपना कर केवल भगवन्नाम-स्मरण द्वारा ही परमेश्वर की अपरोक्षानुभूति तथा उपलब्धि निष्पन्न की।

वृत्तिरूपी अवलम्बन

भगवदानुभव हेतु एकाग्रता-प्राप्ति के लिए मन को तीसरे प्रकार का जो अवलम्बन दिया जा सकता है, वह एक विचार अथवा कोई एक भावना के रूप में भी हो सकता है। यह विचार अथवा भावना किसी न किसी

प्रकार अवश्यमेव परमात्मा से सम्बन्धित होना चाहिये। कुछ चुने हुए दिव्य विचार या भावनाएं, जिन में से किसी एक को ध्यान-अभ्यास के लिए धारण किया जा सकता है, निम्न हैं—

(क) परमात्मा ही एकमात्र शक्ति अथवा एकमात्र सत्ता है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है।

(ख) मैं शरीर, मन, इन्द्रिय तथा बुद्धि और अहंकार से परे विशुद्ध, असंग एवं स्वतंत्र आत्मा हूँ।

(ग) यह समस्त जगत भगवान से ही प्रकट हुआ है तथा उसी में स्थित है।

(घ) मैं परब्रह्म परमात्मा की शरण लेता हूँ।

(ङ) उन भगवान के प्रति मेरा बारम्बार धन्यवाद तथा लाखों बार प्रणाम हो जो सबके स्वामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा अनन्त करुणा-स्वरूप हैं।

(च) भगवान एक महान् शान्ति के सागर हैं, जिसमें मैं डूब रहा हूँ। मेरे बायीं ओर शान्ति है मेरे दायीं ओर शान्ति है; मेरे ऊपर शान्ति है, नीचे शान्ति है; आगे शान्ति है, पीछे शान्ति है। उस परमपिता में स्थित, मैं शान्ति मात्र हूँ, इत्यादि।

उपरोक्त में से कोई एक विचार अथवा भावना जो अपनी श्रद्धा, अपनी धार्मिक अथवा आध्यात्मिक निष्ठा और अपने बौद्धिक निश्चय से मेल खाती हो, 'धारणा' के लिए ग्रहण की जाती है तथा उसका प्रयोग किया जाता है। अपनी समस्त चेतना को ऐसी एक वृत्ति पर, अन्य सब वृत्तियों का बहिष्कार करके, केन्द्रित करना होता है। यदि वृत्ति भक्ति-प्रधान भाव

वाली हो तो इसकी 'धारणा' के लिए उपयुक्त स्थान 'अनाहत-चक्र' है, परन्तु यदि वृत्ति ज्ञान-प्रधान भाव वाली हो तो इसकी 'धारणा' के योग्य स्थान 'आज्ञा-चक्र' होता है।

तीसरी साक्षी-भाव के अभ्यास की विधि
(Witnessing Method)

ऊपर कही गई स्वीकारात्मक और निषेधात्मक विधियों के अतिरिक्त ध्यान की एक तीसरी विधि भी है, जिसमें न तो 'धारणा' (fixing) का अभ्यास करना होता है और न ही 'निरोध अथवा अस्वीकरण' (stopping or rejecting) का। इस तीसरी विधि के अनुसार अभ्यास में संलग्न साधक को संकल्पों अथवा विचारों को अनात्म जानते हुए, उन्हें दृश्य प्रकृति का ही रूप, अंश अथवा क्रिया मान कर उनके प्रति तटस्थ रहना होता है और इस प्रकार साक्षी बनकर उनको देखना मात्र होता है। इस भाँति संकल्प अथवा विचार उदय और अस्त होते रहते हैं, परन्तु साधक न तो उनकी ओर आकर्षित होता है और न ही उनकी परवाह करता है, बल्कि उपेक्षा भाव से उनका अवलोकन मात्र करता रहता है—जैसे बहुत ऊँचे स्थान पर खड़ा होकर कोई व्यक्ति बहुत नीचे की वस्तुओं को उपेक्षा भाव से, उनसे अप्रभावित रहकर, देख रहा हो। ऐसा अभ्यास करने पर कुछ समय तक मन यन्त्रवत् संकल्प अथवा विचार करता है परन्तु उसको सत्ता प्रदान करने वाली चेतन आत्मा का सहयोग खो बैठने के कारण अन्ततोगत्वा वह शान्त एवं निष्क्रिय हो जाता है, किन्तु साथ ही साथ अति सजग व सचेत भी बना रहता है। इस प्रकार पूर्ण निष्क्रियता के साथ-साथ मन की पूर्ण सजग-सचेत अवस्था (state of alert passivity) निष्पन्न हो

जाती है। गम्भीर नीरवता की इसी प्रशान्त स्थिति में ही प्रत्यक् आत्मा (शुद्ध आत्मा) का अपरोक्ष अनुभव होता है तथा तत्पश्चात् परब्रह्म पुरुषोत्तम की पूर्ण अनुभूति भी।

ध्यान की उपरोक्त तीनों विधियाँ मन को समाहित करने में सर्वाधिक सक्षम हैं तथा इनके द्वारा साधक को कोई अतिमानसिक अनुभव हो सकता है अथवा आत्मा की झलक भी मिल सकती है। उनका अभ्यास निस्संदेह कठिन ही है—विशेषकर बहिर्मुखी वृत्ति वाले और आलसी स्वभाव वाले व्यक्तियों के लिए। निश्चित रूप से सफलता-प्राप्ति के लिए दीर्घकाल तक सतत् अभ्यास करना आवश्यक होता है। अभ्यास बड़े प्रेम-आदरपूर्वक करना चाहिये न कि केवल 'बेगार' टालने की तरह। योग दर्शन में कहा है—

"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।"

(योग दर्शन 1.14)

चिन्तन (Meditation)

ध्यान और चिन्तन में अन्तर है। ध्यान (contemplation) के अभ्यास में मन को किसी एक पदार्थ अथवा एक वृत्ति पर बाँधना होता है, जबकि चिन्तन में मन को परस्पर सम्बंधित अनेक वृत्तियों के धारा-प्रवाह पर, जो किसी एक ही विषय को लक्ष्य बनाती हैं, एकाग्र किया जाता है। ध्यान का अभिप्राय मन का किसी एक ही वस्तु अथवा वृत्ति पर स्थिर होना है और चिन्तन (meditation) का अर्थ है मन का उस परस्पर गुंथे हुए तथा एक ही विषय से सम्बन्धित विचार-समूह पर प्रवाहित होना। ब्रह्माकार वृत्ति को आधार बनाकर ध्यान करने की प्रक्रिया को वेदान्त की भाषा में निदिध्यासन कहते हैं जबकि चिन्तन क्रमबद्ध विचारधारा के अभ्यास को

निर्दिष्ट करता है। उदाहरणार्थ, किसी अवतार का अथवा किसी अनुभवी भक्त या सन्त की जीवन-लीला का कोई उच्च प्रेरणाप्रद दृश्य (scene), अथवा संसार की क्षणभंगुरता अथवा आत्मा की अखण्डता और त्रिकाल-बाधता जैसा कोई विषय मन के सामने चिन्तन के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इस विषय के परस्पर सम्बंधित विचारों द्वारा मन तन्मयता के साथ इस एक ही विषय का चिन्तन करता रहता है और अन्य सभी ओर से हट जाता है। यह तो पर्याप्त रूप से स्पष्ट ही है कि चिन्तन का अभ्यास ध्यान के अभ्यास की अपेक्षा अधिक सरल है। वास्तव में 'चिन्तन' एकाग्रता की प्रथम अवस्था है जिसका अभ्यास आगे उस दूसरी अवस्था की ओर ले जाता है, जिसे 'ध्यान' कहते हैं।

आध्यात्मिक एकाग्रता की प्राप्ति के लिए कुछ अभ्यास

आप तैरना सीखना चाहते हैं। उस उद्देश्य के लिए आप अनेक पुस्तकें पढ़ते हैं, प्रवचन सुनते हैं और तैरने की समस्त विधियों को भली भाँति जान लेते और समझ लेते हैं। परन्तु इतने मात्र से आप को क्या तैरना आ जायेगा? क्या तैरने की विधियों की केवल बौद्धिक जानकारी आप को इस योग्य बना देगी कि आप तैर सकें? इस का उत्तर निश्चित रूप से 'नहीं' में ही मिलेगा। तैरने की कला को सीखने के लिए आपको जल में प्रवेश करना होगा और अपने हाथों और पैरों को हिला-डुला कर तैरना सीखने के लिए अभ्यास करना होगा। तैरने की किसी विधि की बौद्धिक जानकारी अथवा उसकी शिक्षा या संकेत (hints) तैरना सीखने में आपकी तभी सहायता कर सकते हैं तथा इस सीखने की प्रक्रिया को अधिक सरल और क्षिप्र बना सकते हैं, जब आप उद्योग करें और तैरने

का अभ्यास करें। यही बात आध्यात्मिक एकाग्रता के लिए भी चरितार्थ होती है जिसके लिए आपको अभ्यास में बैठना चाहिये और अपने चंचल मन पर पूर्ण स्वामित्व स्थापित करने के लिए प्राप्त ज्ञान-शक्ति, भावना-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति से काम लेना चाहिये। एकाग्रता की निष्पत्ति के लिए कुछ अभ्यास यहाँ लिखे जाते हैं–

अभ्यास सं॰ 1

स्नान द्वारा अथवा हाथ, पैर और मुख को धोकर शारीरिक शुद्धि कीजिये। जिस आसन (posture) में सुखपूर्वक बैठ सकते हों, उसमें बैठ जाइये। इस सम्बन्ध में सावधान रहिये कि आपका मेरुदण्ड, ग्रीवा (neck) और सिर एक सीध में रहें। अधिक उपयुक्त होगा यदि आप एक समतल परन्तु तनिक ऊँचे प्लेटफार्म जैसे स्थान (सम्भव हो तो {preferably} किसी लकड़ी के तख्त या चौकी) पर पालथी मार कर बैठें। यदि किसी कारणवश पालथी मार कर न बैठ सकते हों तो किसी कुर्सी पर ही इस प्रकार सीधे होकर बैठिये कि आप का मेरुदण्ड और सिर किसी दिशा में झुके नहीं। नेत्र बन्द कर लीजिये और छाती के मध्य में स्थित 'हृदय-चक्र' पर अपनी समस्त चेतना को केन्द्रित कीजिये। लगभग दस मिनट तक धीरे-धीरे भगवान की स्तुति और प्रार्थना कीजिये। ऐसा करने के लिए किसी धार्मिक सद्ग्रन्थ में से कोई उपयुक्त पद (जिस का अर्थ आप को स्पष्टतया ज्ञात हो) अथवा किसी सन्त-भक्त द्वारा रचित कोई भक्तिभाव-पूर्ण ऐसा भजन चुन लीजिये, जो आप को पर्याप्त विनम्र और ग्रहणशील बनाने वाला तथा आपके मन को ऊर्ध्वमुखी बनाने वाला हो। इस पद का या भजन का मन में ही धीरे-धीरे, अथवा वाणी द्वारा, पर धीमे, कोमल और

लय-पूर्ण स्वर में, गायन करिये। ऐसा जो कुछ भी आप मन के द्वारा अथवा वाणी के द्वारा उच्चारण करें, उसे अत्यन्त भावपूर्ण बनाने का प्रयत्न कीजिये। एक संक्षिप्त एवं सरल प्रार्थना इसी पुस्तक के अन्तिम भाग में दी गई है।

प्रार्थना पूरी कर लेने के पश्चात् साधारण प्राणायाम का अथवा दीर्घ श्वासोच्छ्वास (deep breathing) का अभ्यास दस-पंद्रह मिनट तक के लिए कीजिये (प्राणायाम तथा दीर्घ श्वासोच्छ्वास के अभ्यास की विधि के लिए इस पुस्तक का 'एकाग्रता में सहायक बातें' वाला भाग देखिये)। प्राणायाम के उपरान्त संकल्प करना अथवा सोचना बिल्कुल बन्द कर दें। चेतना को 'हृदयचक्र' पर ही केन्द्रित रखिये। जागरूक रहकर मन की शून्यता (blankness) का अवलोकन (watch) कीजिये और किसी वृत्ति या रूप को मन में न आने दीजिये। यदि कोई संकल्प अथवा विचार आवे तो इसके पहले कि वह आपके मन को अधिकृत कर ले और इसे बाहर भटकाने लगे अथवा इसे किसी आन्तरिक चिन्ता में लगा दे, तत्काल उसका निष्कासन कर दीजिये। समस्त बाह्य आघातों और सूचनाओं (external impacts and suggestions) को जैसे ही वे बाहर से आवें, तथा चित्त से उठने वाले पुराने व भूले हुए विचारों और संकल्पों को जैसे ही वे अन्दर से उदय हों, तुरन्त हटा दीजिये। पहले-पहल अभ्यास में बैठने के थोड़े समय के पश्चात् ही आप अपने साक्षीभाव और सजगता की स्थिति को खो बैठते हैं और मन इस तरह बाहर से आये किसी सुझाव (अथवा आघात) में, अथवा अन्दर से उदय हुए किसी संकल्प या विचार में, भटकने लगता है तथा आप को उस समय इसके इस प्रकार भटकने का ज्ञान तक भी

नहीं रहता। तत्पश्चात् अचानक आपको इस बात का बोध होता है कि आपका मन भटककर किसी बाहर से आये अथवा अन्दर से उठे संकल्प-विचार में संलग्न हो गया था। यहां समझने का रहस्य यह है कि आपको साधना के समय यह अनुभव कभी नहीं होता कि "मेरा मन भटक रहा है।" वस्तुतः अनुभव यह होता है कि "मेरा मन भटक रहा था" और यह अनुभव भी आपको अचानक उस समय तब होता है जब आप अपने मन से तद्रूप होना बन्द करके पुनः उसके सजग साक्षी बन जाते हैं। अभिप्राय यह कि मन भटकता तब है, जब आप उसके साथ तद्रूप होकर अपने साक्षीभाव की स्थिति से च्युत हो जाते हैं और जागरूकता को खो बैठते हैं। अतएव आरम्भ में मन के भटकने से साहसहीन मत बनिये बल्कि अधिक सजग रह कर 'निरोध अथवा अस्वीकरण तथा अवलोकन' का अभ्यास करते रहिये। निरन्तर अभ्यास करते रहने से वह धीरे-धीरे 'दृढ़ भूमि' हो जाता है। तब ऐसा प्रशान्त और कल्पना-रहित मन, अपने अन्दर निवास करने वाले शुद्ध आत्मा की स्वरूपभूत नीरव शान्ति और निर्मल ज्योति को ही प्रतिबिम्बित करता है—किसी अन्य व्यक्ति, वस्तु अथवा विषय को नहीं।

अभ्यास सं० 2

जैसा कि अभ्यास सं० 1 में बताया है, उसी प्रकार शरीर की शुद्धि करिये, आसन में बैठ जाइये और भगवान की स्तुति कीजिये। यदि आपके लिए गुणकारी हो तो प्राणायाम अन्यथा दस से पन्द्रह मिनट तक दीर्घ श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया का अभ्यास कीजिये। अपने नेत्र मूंद लीजिये और भृकुटि मध्य 'आज्ञा-चक्र' पर चेतना को केन्द्रित करिये। यहीं अपने

इष्टदेव की, अथवा प्रिय प्रभु के सगुण रूप की, अथवा किसी ऐसी ज्योति की जो आपके मन को अत्यधिक आकर्षित करती हो, इस प्रकार धारणा कीजिये कि ज्ञाता का पूरा ध्यान इसी धारण किये हुए इष्ट ध्येय पर ही बँधा रहे। मन यदि किसी अन्य पदार्थ, प्राणी अथवा परिस्थिति की ओर भागे तो उसको बार-बार वहाँ से हटाकर अपने इष्ट ध्येय में ही लगाइये—

"यतो यतो निश्चरित मनश्चंचलस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।" (गीता 6.26)

इस प्रकार के सतत् अभ्यास से जब मन एक ही ध्येय पर पर्याप्त लम्बे समय तक स्थिर रहने में प्रशिक्षित हो जाता है, तब ध्यान की उस स्थिति में केवल दो ही पदार्थ—ध्याता और ध्येय—विद्यमान रहते हैं, जो दोनों स्थिर तथा पृथक्-पृथक् रूप में प्रकाशित होते हैं। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने के उपरान्त अपने आप को द्रष्टा के साथ, जो उस समय 'ध्येय' से स्पष्ट रूप में पृथक् भासमान होता है, तदाकार करना चाहिये अर्थात् यह वृत्ति उठानी चाहिये कि द्रष्टा ही मेरा वास्तविक स्वरूप है। इस तरह के अभ्यास से ध्येय-दृश्य अथवा प्रतिरूप अंत में द्रष्टा में विलीन हो जाता है और द्रष्टा अपने कैवल्य स्वरूप में अवशिष्ट रहता है।

अभ्यास की विधि में जब ऐसी अवस्था आती है कि ध्येय जब ध्याता के समक्ष स्थिर होने को होता है तो कई बार यह विलुप्त हो जाता है और उसके स्थान पर एक निराकार ज्योति-सी आ जाती है, परन्तु वह स्थायी नहीं होती। किसी-किसी समय विभिन्न रंगों के प्रकाश दिखाई देते हैं, जो यथा-क्रम बदलते रहते हैं। साधक को इनकी ओर आकर्षित नहीं होना चाहिये अथवा इनमें रस नहीं लेना चाहिये। अपने इष्टदेव अथवा

इष्ट ध्येय को पुनः-पुनः धारणा में लाकर मन की नीरवता में उसका ध्यान करना चाहिये जब तक कि वह पर्याप्त दीर्घ समय तक स्थिर नहीं रहने लगता।

अभ्यास सं० 3

पालथी मारकर बैठ जाइये तथा जैसे ऊपर निर्देश किया गया है, स्तुतिमय प्रार्थना कीजिये। भगवान का कोई 'नाम' अथवा कोई मन्त्र (अपनी निष्ठा के अनुसार) चुन लीजिये, जो आप को सबसे अधिक आकर्षित करता हो। यह कहीं अधिक श्रेयस्कर होगा यदि वह 'नाम' अथवा मन्त्र आपको किसी अनुभवी तपोवृद्ध सन्त द्वारा दीक्षा के समुचित नियमों और शिक्षा सहित उपदिष्ट हो; क्योंकि इस प्रकार का नाम अथवा मन्त्र पहले ही पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न होता है और अधिक सरलता से सिद्ध किया जा सकता है। अपने नेत्रों को बन्द कर लीजिये और 'हृदय-चक्र' में इस नाम अथवा मन्त्र का जाप करिये। यह जाप यन्त्रवत् नहीं होना चाहिये बल्कि इसका अभ्यास उच्च भावों और गम्भीर श्रद्धा की भाषा में बड़े प्रेम से मधुरतापूर्वक कीजिये। इसी समय साथ ही साथ अपनी चेतना का एक भाग इस मन्त्र अथवा 'नाम' के होते हुए जाप को सुनने में लगा दीजिये। ऐसा करने से आपकी वृत्ति मन्त्र की ध्वनि को सुनने में ही लगी रहेगी और मन कहीं दूसरी जगह नहीं भटकेगा। यदि मन किसी अन्य पदार्थ की ओर जायेगा तो जाप का सुनाई देना बन्द हो जायेगा, और आप को तुरन्त ही पता चल जायेगा कि आपका मन 'जाप' से भटक गया था तथा आप उसे पुनः जाप में लगा सकते हैं। इस प्रकार जाप करने और साथ ही साथ उस होते हुए जाप को सुनने के अभ्यास से एकाग्रता और स्थिरता की प्राप्ति

में पर्याप्त सहायता मिलती है। प्रतिदिन कम से कम एक घण्टा अथवा इससे अधिक समय जाप के अभ्यास के लिए अवश्य देना चाहिये।

कुछ महीनों की सच्ची लगन के साथ किये गये निरन्तर जाप-अभ्यास के पश्चात् मन्त्र की शक्ति प्रगट होने लग जाती है और मन मन्त्र के दिव्य स्पन्दनों से मुग्ध होकर स्वतः ही 'अनाहत-चक्र' में खिंचा रहने लगता है। तत्पश्चात् आध्यात्मिक अनुभव होने आरम्भ होने लगते हैं। मन्त्र में समाविष्ट शक्ति अब आपको मानो हाथ से पकड़ लेती है तथा क्रमानुसार उत्तरोत्तर ऊँचे आध्यात्मिक क्षेत्रों में ले जाती, एवं उनके अनुभव कराती है। धीरे-धीरे जैसे-जैसे अभ्यास आगे बढ़ता है, आप अध्यात्म में आरोहण करते जाते हैं और अन्ततोगत्वा आध्यात्मिक उपलब्धि के उस उच्चतम शिखर पर पहुँच जाते हैं, जहाँ से आगे और कोई मार्ग नहीं है।

अभ्यास सं० 4

परमात्मा के सम्बन्ध में कोई एक विषय जो आप को सब से प्रिय लगता हो, जैसे मोक्ष, परमात्मा का स्वरूप, भगवान और जगत् तथा जीव और परमात्मा के बीच परस्पर सम्बन्ध अथवा ऐसा ही परमार्थ सम्बन्धी कोई अन्य विषय चुन लीजिये और उस पर इतने मग्न होकर विचार एवं मनन कीजिये कि बाह्य जगत् पूर्णतया विस्मृत हो जावे। लोक-परलोक के समस्त पदार्थ-परिस्थितियों की क्षणभंगुरता और नश्वरता का चिन्तन भी हितकारी होता है क्योंकि वह मन को संसार के मोह से मुक्त करने में सहायता करता है।

अभ्यास सं० 5

उपरोक्त विधि से आसन पर बैठिये और प्रार्थना कीजिये। अपने नेत्र मूंद लीजिये और कुछ भी सोचना अथवा संकल्प करना बन्द कर

दीजिये। सर्वथा निश्चेष्ट हो जाइये। संकल्प या विचार जो भी अन्दर से उदय हों अथवा बाहर से आयें, उनके साथ 'कुश्ती' मत कीजिये, केवल साक्षीभाव में स्थित रहकर उनका 'हृदय-चक्र' में अवलोकन कीजिये। इस विधि के अनुसार संकल्पों-विचारों को न तो निमन्त्रण ही देना होता है और न ही उनका दमन करना होता है। उनको आने-जाने दीजिये और असंग-दृष्टि से उनको वैसे ही देखिये जैसे कभी-कभी आप उड़ते हुए पक्षियों को आकाश में आते-जाते देखते हैं। विचारों के आने तथा जाने में स्वयं तदाकार होकर अथवा अपना सहकार देकर उनकी गति-विधियों में भाग (participate) नहीं लेना चाहिये बल्कि उनका साक्षी मात्र रहकर बड़ी शान्ति और सहजता से केवल उनकी उपेक्षा-अवहेलना करते रहिये। इस प्रकार का अभ्यास प्रतिदिन नियमित रूप से करते रहने से कुछ ही महीनों में सभी संकल्प और विचार शान्त होने लग जाते हैं और अन्त में उनका उदय होना तथा अस्त होना दोनों बन्द हो जाते हैं। चेतना एक अत्यन्त नीरवता और प्रशान्त स्थिति में अवस्थित हो जाती है।

प्रार्थना और आध्यात्मिक साधन-भजन आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए वैसे ही आवश्यक हैं, जैसे शरीर के स्वास्थ्य के लिए भोजन तथा शारीरिक व्यायाम। उस व्यक्ति को, जो आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का इच्छुक है, प्रतिदिन कुछ समय प्रार्थना, जाप और ध्यान-अभ्यास के लिए अवश्यमेव निकालना चाहिये। वह व्यक्ति जो दिन में कुछ घण्टे भी नहीं निकाल सकता, जिनमें वह अपने मन को सांसारिक बातों से हटाकर उसे भगवान के स्मरण में लगावे, किस प्रकार परमात्मा को प्राप्त करने अथवा आत्म-अनुभव करने की आशा कर सकता है ?

कुछ भयसूचक संकेत

यहाँ पर कुछ ऐसी आशंकाओं का विवरण देना अनुचित न होगा, जिनके प्रति अति-व्यग्र साधक को सावधान रह कर, उनसे अपनी सुरक्षा अवश्य करनी चाहिये।

साधारण मनुष्य के मन की सामान्य प्रवृत्ति अधिकतर चञ्चल रहने और विषयात्मक जगत् में बहिर्मुखी होकर कार्य करने की ही है। परन्तु आन्तरिक एकाग्रता की चेष्टा जैसा कि पहले समझाया जा चुका है, इसके सर्वथा विपरीत होती है। ऐसा होने के कारण एक नव-साधक (neophyte) जो आरम्भ में ही अपने मन को एकदम लम्बे समय तक स्थिर करने, विशेषरूप से 'आज्ञा-चक्र' पर स्थिर करने का प्रयत्न करता है, अपने मस्तिष्क पर भारी दबाव प्रतीत करता है। यह मन को अन्तर्मुख करने के लिए की गई चेष्टा से मन में उत्पन्न तनाव (tension) के कारण होता है, क्योंकि मन मस्तिष्क के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। अभ्यास में संलग्न साधक यदि अपनी शक्ति से बाहर होकर, अर्थात् अत्यधिक अभ्यास करता है और मन को 'आज्ञा-चक्र' में लम्बे समय तक स्थिर करने के लिए उग्र प्रयत्न करता है तो वह अपने मस्तिष्क के ज्ञानतन्तु-कोष्ठकों (nerve cells) को हानि पहुँचाने में ही प्रवृत्त होता है। मस्तक में तीव्र पीड़ा और भारीपन, भ्रूमध्य स्थान के दीर्घ अवधि तक ठंडा पड़ जाने की प्रतीति, मस्तक का अत्यधिक गर्म हो जाना अथवा उसमें तीव्र उत्तेजना (irritation) होना इस खतरे के ही संकेत होते हैं।

इसके अतिरिक्त अनेक साधक आध्यात्मिक पथ में आगे आने वाले उन मोड़ों से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं, जहाँ पर बहुत समझदारी और कठिन परिश्रम की आवश्यकता होती है। ऐसे साधक आरम्भ में ही अत्यधिक क्षिप्र

गति से साधना में आगे बढ़ जाने के लिए अपनी क्षमता से भी अधिक बलपूर्वक परिश्रम करते हैं। इसका फल प्रायः यही होता है कि वे साधना से कुछ ही समय के पश्चात् थक और ऊब जाते हैं तथा बीच मार्ग में ही साधना को छोड़ बैठते हैं। खेल-कूद (sports) का एक रूपक इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करने वाला है। आध्यात्मिक साधना रूपी दौड़ की तुलना खेल-कूद (sports) की छोटी दौड़ (sprint) से नहीं की जा सकती जिसमें व्यक्ति को एक ही झटके में, पूरी शक्ति लगा कर, समस्त दूरी तक ही क्षिप्र गति से भागना होता है, अपितु यों कहिये कि इस 'आध्यात्मिक दौड़' की तुलना खेल-कूद (sports) की उस लम्बी दौड़ (marathon) के साथ की जा सकती है, जिसे मानो नपे-नपाये पगों से (with measured steps) नितान्त धैर्यपूर्वक इस तरह पूरा करना होता है कि विजय-प्राप्ति के अन्तिम पग तक के लिए आन्तरिक बल सुरक्षित रहे।

इन खतरों से बचने के लिए साधक को आन्तरिक एकाग्रता का अभ्यास पहले मिनटों से आरम्भ करना चाहिये और तत्पश्चात् अभ्यास की अवधि को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये—**"शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।"** यदि ध्यान-अभ्यास करते समय मस्तिष्क थक जाये और सिर में या मस्तक में पीड़ा होने लगे तो उस समय अभ्यास को स्थगित कर दीजिये और मन को विश्राम लेने दीजिये। शान्तिपूर्वक भगवान का नाम स्मरण कीजिये अथवा मन में भगवान की सुहृदयता के गुण का स्मरण मात्र कीजिये। जब मानसिक सन्तुलन और शारीरिक स्वास्थ्य ठीक हो जायें तो पुनः साधना आरम्भ कर दीजिये।

आध्यात्मिक यात्रा दिनों अथवा महीनों की नहीं होती, परन्तु वर्षों तक भी यह चल सकती है। कौन जानता है कि इस यात्रा के अन्तिम लक्ष्य तक

पहुँचने में अनेक जन्म ही लग जावें? अतएव अधीर मत बनिये। चुपचाप धैर्यपूर्वक साधना-कार्य करते जाइये। सफलता की निश्चित प्राप्ति के लिए जल्दबाजी और अनुचित उग्रबल-प्रयोग की नहीं बल्कि क्रमबद्ध, युक्ति-पूर्ण तथा स्थिरता व धैर्यपूर्ण साधना-अभ्यास की आवश्यकता होती है।

यहाँ पर एक और बात के सम्बंध में भी साधक को सावधान कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। कई साधक ध्यान-अभ्यास की विधि को पुनः-पुनः बदलते रहते हैं—ध्यान-अभ्यास की एक विधि को अपना कर साधना आरम्भ की और कुछ दिनों या महीनों के पश्चात् यदि उसके द्वारा मन पूरी तरह समाहित नहीं हुआ अथवा उसके द्वारा पर्याप्त आन्तरिक एकाग्रता न हुई तो उसको छोड़कर दूसरी विधि से अभ्यास करने लगे। कुछ समय दूसरी विधि से अभ्यास किया और उससे पूरी सफलता न मिलने पर उसे छोड़ तीसरी विधि को पकड़ लिया। तत्पश्चात् इसी प्रकार करते गये। अपने अभ्यास की विधि को कपड़ों की तरह बार-बार बदलना सचमुच बड़ी भूल है। जैसे बार-बार स्थान बदल कर कुआँ खोदने से कहीं भी जल नहीं निकलता, इसी प्रकार बारम्बार ध्यान-अभ्यास की विधि को बदलते रहने से भी अभ्यास दृढ़-भूमि नहीं बनता और पूरी आन्तरिक एकाग्रता प्राप्त नहीं होती। परिणाम इसका यही होता है कि साधक किसी अभ्यास-विधि के द्वारा भी कोई श्रेष्ठ आध्यात्मिक अनुभूति उपलब्ध नहीं कर पाता और अध्यात्म अथवा परमार्थ के ही प्रति शंकावादी बन जाता है।

बारम्बार अभ्यास-विधि बदलने का कारण प्रायः यही होता है कि एक अभ्यास से मन की अन्तर्मुखता प्राप्त करने में जब कुछ कठिनाई आती है अथवा पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है तो कुछ समय के पश्चात् साधक चलायमान हो जाता है और भ्रम से समझने लगता है कि दूसरी

अमुक विधि इससे सरल होगी, उसमें कठिनाई नहीं आयेगी और शीघ्र ही पूरी तरह मन स्थिर हो जायेगा। इस प्रकार भ्रम के वशीभूत हुआ वह पहले अभ्यास को छोड़ दूसरे अभ्यास में लगता है। उसमें आरम्भ में कुछ सरलता प्रतीत होती है क्योंकि मन का स्वभाव है कि वह नवीनता में आकर्षित होता है, परन्तु कुछ समय के उपरान्त उस में भी कठिनाई भासने लगती है। कुछ समय दूसरी विधि से अभ्यास करने पर भी जब मन पूरी तरह स्थिर नहीं होता तो दूसरी को भी छोड़ तीसरी अभ्यास-विधि पकड़ने की प्रवृत्ति होती है। इस तरह कोई अभ्यास भी दृढ़ नहीं हो पाता और साधक आन्तरिक एकाग्रता लाभ नहीं कर पाता तथा परमार्थ-लाभ से वञ्चित ही रह जाता है।

अतएव यह समझ कर कि प्रत्येक अभ्यास में मन को पूरी तरह अन्तर्मुख करने तथा आन्तरिक आत्म-रस लेने के लिए पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है और कठिनाइयाँ भी सभी अभ्यास-विधियों में आती हैं, साधक को बारम्बार अभ्यास-क्रम नहीं बदलना चाहिये और एक अभ्यास को ही अनन्य चित्त होकर दृढ़ करना चाहिये। उसे यह जानना चाहिये कि मन पर स्थायी रूप से पूर्ण नियन्त्रण करना और उसे पूरी तरह अन्तर्मुख कर लेना सहज नहीं होता। मन ने बड़े-बड़े मनीषियों, विद्वानों और तपस्वियों तक को भी नचाया है। बड़े-बड़े शूरवीर और देश-विदेश पर शासन करने वाले भी मन के दास बने रहते हैं। अर्जुन जैसे धर्मवीर को भी, जो कर्त्तव्यनिष्ठ तथा पवित्र हृदय था, इस सम्बंध में कहना पड़ा था—

"चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।" (गीता 6.34)

अर्थात, हे कृष्ण, यह मन बड़ा अस्थिर, चंचल, हठी तथा बलवान

है, अतः मैं इसे नियन्त्रण में करना वायु को नियन्त्रण में करने के समान ही कठिन मानता हूँ।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मन को अन्तर्मुख, एकाग्र अथवा समाहित किया ही नहीं जा सकता। **"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते"** कह कर भगवान ने बताया है कि अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन को अवश्य ही वश में किया जा सकता है। यहाँ कहने का अभिप्राय इतना ही है कि अभ्यास के द्वारा निस्संदेह मन को अन्तर्मुख करके सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु अभ्यास-क्रम बारम्बार नहीं बदलना चाहिये।

ऊपर जो आध्यात्मिक-ध्यान के लिये विधियाँ बतलायी गयी हैं उनमें से साधक को अपने व्यक्तित्व की अनुकूलता के अनुसार अथवा अपने गुरुदेव के निर्देशानुसार कोई एक विधि चुन लेनी चाहिये और फिर दत्तचित्त होकर पूरे मनोयोग और तत्परता से सफलता प्राप्ति तक सतत रूप से उसका अभ्यास करते रहना चाहिये। किन्तु भगवान के पवित्र नाम अथवा मन्त्र का जाप तो प्रत्येक साधक को अवश्य ही करना चाहिये क्योंकि इसके माध्यम से भगवत्कृपा शीघ्र एवं निश्चित रूप से साधक के जीवन में अवतरित होती है।

ध्यान-अभ्यास में कुछ बाधक और सहायक बातें

आन्तरिक एकाग्रता-प्राप्ति के मार्ग में कुछ बाधायें आती ही हैं और कुछ ऐसी बातें भी हैं, जो इसमें सहायक तथा इसे उन्नत करने वाली भी होती हैं। इस आशय से कि उनका ज्ञान ध्यान के मार्ग में संलग्न साधक के लिए लाभकारी होगा, उनमें से मुख्य-मुख्य का विवरण नीचे दिया जा रहा है—

ध्यान-अभ्यास में बाधाएं

(क) मन का भटकना (विक्षेप)

मन का भटकना एक आम बीमारी है। बन्दर की तरह, जो लगातार वृक्ष की एक शाखा से दूसरी शाखा तक अथवा एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक कूदता ही रहता है, साधारण मनुष्य का मन भी चञ्चल होकर घूमता रहता है। किसी प्रयोजन को लेकर अथवा बिना ही किसी प्रयोजन के, यह मन संसार के एक पदार्थ या विषय से दूसरे पदार्थ या विषय की ओर दौड़ता रहता है और कभी विश्राम नहीं पाता। उन शारीरिक रोगों से भिन्न, जो मनुष्य के शरीर को किसी विशेष आयु में लगते हैं और छूट जाते हैं, मन के भटकने का यह रोग जन्म से ही मनुष्य के साथ लग जाता है और मृत्यु पर्यन्त उसका पीछा नहीं छोड़ता। क्या इस रोग का कोई निदान भी है? हाँ, प्रत्येक रोग की कोई न कोई औषधि होती है और यह सिद्धान्त यहाँ भी लागू होता है। मन के भटकने का यह रोग नितान्त असाध्य नहीं है। यद्यपि मन की चंचलता को पूरी तरह जीतना कष्ट-साध्य और कठिन अवश्य है, तो भी ऐसा करना सर्वथा अव्यवहार्य भी नहीं है। क्या ऐसे सन्त और धर्मात्मा-व्यक्ति नहीं हो गये हैं, जिन्होंने सचमुच मन का निरोध किया था? क्या ऐसे आत्म-संयमी व्यक्ति—भले ही वे संख्या में अल्प हों —आज भी संसार में नहीं मिलते?

वैराग्य और अन्यान्य नैतिक गुणों से युक्त अनुशासित जीवन के द्वारा तथा सम्यक् ध्यान-चिन्तन के नियमित अभ्यास से मन की एकाग्रता और इसका पूर्ण निरोध अवश्य ही निष्पन्न किये जा सकते हैं। सच्ची लगन के साथ सम्यक् मार्ग-दर्शन के प्रकाश में किया गया प्रयत्न अन्ततोगत्वा अवश्य ही सफल होता है।

(ख) निद्रा

दूसरी बाधा जो साधक के पूर्ण निश्चलता-प्राप्ति के अभ्यास में विघ्न डालती है, वह है निद्रा। साधारण व्यक्ति के मन को केवल दो ही अवस्थाओं का, जिन में रहने का यह साधारणतया अभ्यस्त होता है, अनुभव होता है। इनमें प्रथम अवस्था वह होती है, जिसमें मन बहिर्मुखी होकर अथवा अन्तर्वृत्ति के द्वारा स्वेच्छापूर्वक बाह्य स्थूल पदार्थों एवं स्थूल शरीरधारी प्राणियों के साथ व्यवहार करता है, अर्थात् स्थूल जगत के प्रति ही सोचता, संकल्प करता और उसी की प्रतीति करता तथा जानता है। दूसरी अवस्था वह होती है जिसमें मन सुषुप्ति अर्थात् गहरी निद्रा में पहुँच जाता है। अतएव ज्यों ही आप इसको स्थूल-जगत् के चिन्तन की पहली अवस्था से हटाते हैं तो इसकी प्रवृत्ति दूसरी अवस्था, अर्थात गहरी निद्रा में पहुँच जाने की होती है।

अभ्यास के समय प्रथम बाधा अर्थात् 'मन का भटकना' के दूर होते ही स्वभावतः दूसरी बाधा 'निद्रा' उपस्थित हो जाती है, जो प्रायः उस समय आ घेरती है, जब मन का इधर-उधर भटकना बन्द हो जाता है या बन्द होने वाला ही होता है। ध्यान की निषेधात्मक पद्धति में, जिसका वर्णन पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया जा चुका है, यह बाधा अभ्यास में बैठने के तुरन्त ही बाद प्रगट हो जाती है क्योंकि इस पद्धति में मन को सर्वथा खाली करने का अभ्यास करना होता है। परन्तु ध्यान की स्वीकारात्मक विधि में ऐसा नहीं होता क्योंकि उस में मन को एकदम खाली या निष्क्रिय नहीं बनाना होता, अपितु किसी एक नाम, एक रूप अथवा एक वृत्ति पर तदाकार होने के लिए (मन को) सक्रिय रखना होता है।

ध्यान-अभ्यास में निद्रा उपस्थित हो जाने के कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं, जैसे—अत्यधिक भोजन करके अभ्यास में बैठना, अत्यधिक परिश्रम-जनित शारीरिक अथवा मानसिक थकान, कोई शारीरिक रोग अथवा रात्रि में शरीर को पर्याप्त निद्रा न मिलना, इत्यादि।

ध्यान-अभ्यास में निद्रा की बाधा पर विजय प्राप्त करना मन के भटकने की बाधा पर विजय प्राप्त करने से अधिक दुष्कर होता है। तथापि युक्ताहार, प्राणायाम अथवा दीर्घ श्वासोच्छ्वास की क्रिया तथा अनवरत सजगता के अभ्यास द्वारा इस बाधा का निराकरण किया जा सकता है।

यदि अभ्यास काल में ये सभी सावधानियाँ निद्रा को जीतने में सफल न हों तो साधक को उस समय आसन से उठ जाना चाहिये, जब कि ध्यान में निद्रा तंग कर रही हो। थोड़ी देर टहलना चाहिये, क्षिप्रता से श्वासोच्छ्वास करना चाहिये अथवा अपने मुख को ठंडे जल से धो लेना चाहिये और पुनः अभ्यास में बैठ जाना चाहिये।

(ग) सूक्ष्म जगत् के आकर्षण

मानसिक चेतना को बाह्य स्थूल पदार्थों और परिस्थितियों से हटाकर जब भौतिक-मन की सीमा को पार कर लिया जाता है और जब साधक सुषुप्ति की अवस्था में भी प्रविष्ट नहीं होता, उस अभ्यास-काल में प्रायः सूक्ष्म भौतिक जगत् के माध्यम से उसका सम्बंध प्राणिक-जगत् (astral world) तथा मनोमय जगत (psychic world) के साथ जुड़ जाता है। इस सम्पर्क द्वारा साधक उपरोक्त प्राणिक जगत तथा मनोमय जगत् के अनेकानेक सूक्ष्म आन्तरिक अनुभवों को प्राप्त करने लगता है। इनमें से

कोई भी अनुभव स्थायी नहीं होता—ये क्षणिक प्रकाश मात्र (flashes) होते हैं, जिनकी पुनरावृत्ति कभी-कभी क्षिप्र गति से होती है। इनमें से कई इतने प्रलोभनकारी होते हैं कि साधक भ्रम में पड़ जाता है और इन्हीं निम्न स्तर के अनुभवों में सन्तोष मान कर उस क्षणिक सुख के लिए, जो ये अनुभव प्रदान करते हैं, इन्हीं में ही संलग्न रहने में प्रसन्न होता है। इन परिवर्तनशील क्षणिक प्रकाशों (fleeting visions) के अतिरिक्त कुछ असाधारण शक्तियाँ जैसे—परादर्शन (clairvoyance) आदि भी साधक को आगे उच्च मनोमय लोकों (higher psychic worlds) के साथ सम्पर्क हो जाने से प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु ये भी स्थायी नहीं होतीं। ये सभी चीजें ध्यान-अभ्यास की साधना को गलत दिशा दे देती हैं। इन सब के कारण भयंकर विकर्षण उत्पन्न होते हैं। सम्यक् ध्यान मिथ्या रूप धारण करने लगता है और साधक आत्म-साक्षात्कार अथवा भगवत्प्राप्ति के मार्ग से भटक जाता है।

केवल वही साधक जो अध्यात्म और परमार्थ में पूरी और सच्ची लगन वाले तथा विवेकशील होते हैं, ऐसे बाधा डालने वाले प्रलोभनों से बच सकते हैं; अथवा साधक को कोई बोधवान सद्गुरु (spiritual guide) या कोई सिद्धहस्त महात्मा ही साधना की इस शोचनीय अवस्था से पार ले जा सकते हैं। अन्यथा यह अवस्था ऐसी होती है, जहाँ पर अनेकों की प्रगति रुक जाती है क्योंकि वे इन प्रलोभनों के वशीभूत हो जाते हैं। विरले ही ऐसे साधक होते हैं, जो इस अवस्था से आगे बढ़ पाते हैं।

भक्तिभाव में पर्याप्त रूप से उन्नत उन साधकों के समक्ष, जो भगवत्

शरणागति की छत्र-छाया के नीचे रहकर अपनी साधना करते हैं, ऐसी बाधायें प्रायः आती ही नहीं यदि किसी अवस्था में ऐसी बाधाओं का हस्तक्षेप होता भी है और वे साधक को पथ-भ्रष्ट करने लगती हैं तो भगवान स्वयं ही उनको दूर करके अपने भक्त की रक्षा करते हैं।

(घ) 'अति' करने की प्रवृत्ति

कुछ बाधायें तो ऐसी हैं, जो अपने आप ही हस्तक्षेप करती अथवा सम्मुख आ खड़ी होती हैं, और कुछ बाधायें ऐसी भी होती हैं, जिनको साधक स्वयं ही कभी-कभी अपने ध्यान-अभ्यास की सफलता के मार्ग में खड़ी कर लेता है। इसका कारण साधक की विवेक-रहित दृष्टि ही होती है, जिससे कुछ अभ्यास जो वस्तुतः अन्तर्मुखता की प्राप्ति में बाधा डालने वाले होते हैं, उसको उपयुक्त प्रतीत होते हैं और हठ द्वारा वह उनका अनुकरण करता है। अति उग्र शारीरिक अभ्यास (extreme external practices) जैसे दीर्घकाल तक उपवास करना, रात्रि में निद्रा लेने के समय को उचित सीमा से अधिक घटाना, बिना बैठे एक ही टांग पर खड़े रहना, शीतकाल की ठिठुराने वाली ठंड में सर्वथा नग्न रहना अथवा कड़ाके की धूप में गर्म भूमि पर बैठना और ऐसी ही अन्य उग्र साधनाएं, (यद्यपि उनको तपस्या की कोटि में तो माना जा सकता है) वस्तुतः अन्तर्मुखता की उपलब्धि के मार्ग में सहायता करने के बजाय बाधा ही डालती हैं। कुछ साधक सहनशीलता के सद्‌गुण का विकास करने के नाम पर, अथवा जनता की केवल प्रशंसा प्राप्त करने के लिए अपनी सहन-शक्ति के प्रदर्शनार्थ ऐसे अभ्यासों को अपनाते हैं, वे आन्तरिक शान्ति प्राप्त करने में असफल ही रहते हैं।

इस तरह की ऊर्जा का ह्रास करने वाली उग्र साधनाओं को अपना कर साधक मानो यह सोचने लगता है कि इनके बल पर भगवान को प्रलोभन देकर बुलाया जा सकता है अथवा आने के लिये विवश किया जा सकता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण तो ध्यान-अभ्यास के मार्ग में बाधाओं और विघ्नों को उपस्थित होने का निमन्त्रण देने जैसा है। अपने ही बनाए हुए ऐसे विघ्न रूपी घुसपैठियों (self-created intruders) के साथ लड़ने में अपनी शक्ति का क्षय क्यों करना चाहिये? उस शक्ति का उपयोग मन को भगवान में लगाने अथवा अन्तर्मुख करने के लिए अधिक लाभपूर्ण ढंग से किया जा सकता है। मानव-प्रकृति की विविध अपूर्णताओं के कारण दैनिक क्रिया-कलापों में ही अनेक ऐसे अवसर प्राप्त होते रहते हैं, जिनमें साधक सहनशीलता सीख सकता है अथवा सहनशीलता के गुण का विकास कर सकता है, यदि वह सावधान रहे और ऐसे अवसरों का सदुपयोग करने में उत्साह रखने वाला हो।

इस सम्बन्ध में साधारण नियम, जिसका ध्यान-योग के साधक को दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिये, यह है कि वह उन पदार्थ-परिस्थितियों और प्रवृत्तियों की इच्छा न करे, जो ध्यान-अभ्यास में बाधा डालने वाली अथवा शक्ति का क्षय करने वाली हों, परन्तु उन सब कुछ को शान्तिपूर्वक तथा साहसशील बनकर सहन करे, जो बिना बुलाये ही आ धमकें अथवा जो भगवान की ओर से भेजे गये हों।

ध्यान-अभ्यास में सहायक

(क) विवेक-विचार-अभ्यास

प्रायः साधक शिकायत करते हैं कि ध्यान-अभ्यास के समय उनका मन अपने इष्ट-ध्येय में एकाग्र नहीं होता तथा अकारण ही सांसारिक

पद-पदार्थ-परिस्थितियों-सम्बंधों के पीछे इधर-उधर दौड़ता रहता है। ऐसा ध्येय निष्ठा तथा वैराग्य की कमी के कारण होता है। मन की इस चंचलता से छुटकारा पाने के लिये साधक को ध्यान-अभ्यास आरंभ करने से पहले तथा दिन में जब भी समय मिले, 10-15 मिनिट के लिये निम्नलिखित अभ्यास करना चाहिये। इससे ध्येयनिष्ठा तथा वैराग्य दृढ़ होते हैं और मन धीरे-धीरे शांत होकर समाहित हो जाता है।

शान्तिपूर्वक बैठ जाइये। अपने मन से बाह्य जगत् के सभी पदार्थ-प्राणियों और परिस्थितियों के विचारों को दूर कर दीजिये। नेत्र मूंद लीजिये और यह जानने के लिए अन्दर झाँककर देखिये कि आपका वास्तविक कल्याण किस में है। बड़ी गम्भीरता के साथ अन्तरावलोकन (introspect) करिये और उन दोषों और बाधाओं का निरीक्षण कीजिये, जो आप के और परमात्मा के बीच में बाधा बन कर खड़े हुए हैं। इन समस्त बाधाओं को विवेक-शक्ति और भगवत्प्रेम-बल के द्वारा जीतिये अथवा उनसे ऊपर उठकर उनसे अप्रभावित रहने का दृढ़ संकल्प कीजिये। बारम्बार ऐसा अभ्यास करने से मन बाधा डालने वाली विचार-वस्तुओं से मुक्त हो जायेगा अथवा उनसे असंग और अप्रभावित रहने लगेगा तथा शान्त बन जायेगा।

(ख) युक्ताहार

जो भी भोजन साधक ग्रहण करता है, वह उसकी आध्यात्मिक साधना में प्रगति अथवा अधोगति को बहुत प्रभावित करता है। भोजन न केवल स्थूल शरीर (जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भगवत्प्राप्ति का साधन माना जाता है) के पोषण के लिए ही आवश्यक है बल्कि वह हमारी मानसिक वृत्तियों को भी प्रभावित करता है—यह एक सर्वसम्मत तथ्य है।

पुरानी कहावत है—**"जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।"** अपवादों के लिए क्षमा कीजिये, किसी व्यक्ति को उचित आहार पर रखिये तो आप उसको पुण्यशील, कुशल, धर्मात्मा अथवा देशभक्त बना सकते हैं; उसका आहार गलत रखिये और वह मूर्ख, निराशावादी, अपराधी, निकम्मा अथवा प्रभु-विमुख बन जायेगा। युक्ताहार सचमुच मानव को वास्तविक मनुष्य और वास्तविक मनुष्य को अतिमानव बना सकता है। कहा भी है—

"आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा
स्मृतिः, स्मृति-लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।"

अर्थात्, आहार के शुद्ध होने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण के शुद्ध होने पर स्मृति दृढ़ होती है और ध्रुवा-स्मृति का लाभ हो जाने से हृदय की समस्त अज्ञान और आसक्तिरूपी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

शुद्धाहार उसे कहते हैं जो न्यायपूर्वक तथा शुभ व्यवसाय से कमाई हुई सामग्री द्वारा बना अथवा पका हो; पकाने वाला जिसको बड़े प्रेम और श्रद्धा से बनाये तथा खिलाने वाला भी बड़े स्नेह और प्रेम से खिलाये। इसके साथ-साथ भोज्य पदार्थ भी सतोगुणी होने चाहियें। सात्त्विक भोज्य पदार्थों के सम्बन्ध में गीता में कहा है—

"आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।"

(गीता 17.8)

अर्थात, आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ाने वाले तथा रस-युक्त, चिकने, स्थिर रहने वाले अर्थात् जिनका सार शरीर में

बहुत काल तक रहे, और मन को स्वभाव से ही प्रिय लगने वाले भोज्य पदार्थ सात्त्विक व्यक्ति को प्रिय लगते हैं।

अतएव जहाँ तक बन सके, साधक को सात्त्विक आहार ही ग्रहण करना चाहिये। अत्यन्त उत्तेजना उत्पन्न करने वाले रजोगुणी आहार का सदैव परित्याग ही करना चाहिये क्योंकि वह मनुष्य के मन में रजोगुणी पाशविक भावों को उत्पन्न करके मनुष्य को विनाशकारी 'मानव-पशु' में भी परिवर्तित कर सकता है।

अब प्रश्न यह है कि साधक को शारीरिक और मानसिक बल की, जो ध्यान-अभ्यास के लिए अनिवार्य होता है, प्राप्ति के लिए भोजन के रूप में क्या-क्या ग्रहण करना चाहिये और क्या-क्या ग्रहण नहीं करना चाहिये। इस विषय में कोई कठोर नियम नहीं है। आपको स्वयं सतर्कतापूर्वक यह ज्ञात कर लेना चाहिये कि कौन-कौन-से भोज्य पदार्थों का सेवन आप के शरीर को स्वस्थ और मन को भी निर्मल एवं शान्त रखता है। ऐसा आहार जिससे कोष्ठबद्धता (constipation) अर्थात् कब्ज़ हो जाती हो, जो पेट में वायु उत्पन्न करे अथवा जो प्रमाद की भावना या चञ्चलता को पैदा करे, उसको वर्जनीय सूची के अन्तर्गत समझना चाहिये और प्रत्येक दशा में उसका परित्याग करना चाहिये।

सामान्यतया, साधक के लिए ऐसे भोज्य पदार्थ जैसे मक्खन, घृत, दुग्ध, हरे शाक, बिना छना गेहूँ का आटा और ताजे फल अधिक लाभकारी होते हैं, जबकि मांस, अण्डे, अत्यधिक मात्रा में मसाले आदि लेना निश्चित रूप से हानिकारक है।

आहार के सम्बन्ध में एक और बात जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है, वह यह है कि समस्त मादक वस्तुओं—जैसे अफीम, चरस, भांग,

तम्बाकू आदि का प्रयोग साधक के लिए सर्वथा निषिद्ध है। कई लोग यह कहते हैं कि ऐसी मादक वस्तुओं का सेवन मन को अन्तर्मुख करने में सहायक होता है और इस बहाने से वे इनका प्रयोग करते हैं। परन्तु ये व्यसन सर्वथा बुरे हैं और आध्यात्मिक साधना में लाभ के बजाय हानि ही करते हैं। यही बात मदिरा-पान पर भी लागू होती है। इन सभी मादक वस्तुओं का पूर्ण त्याग करना चाहिये। ऐसे मादक पदार्थों का सेवन मस्तिष्क के कोमल और सूक्ष्म कोष्ठकों को विषाक्त तथा निर्बल करता है और योग में संलग्न साधक को उच्चतर सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभूतियों के अयोग्य बना देता है। कभी-कभी तो ये मादक वस्तुएँ बहुत ही हानिकारक सिद्ध होती हैं और सेवन करने वाले के मस्तिष्क में विकृति अथवा पागलपन का कारण भी बन जाती हैं।

(ग)(i) प्राणायाम (Pranayama)

प्राणायाम का शाब्दिक अर्थ है—'प्राणों का नियन्त्रण'। वस्तुतः प्राण का अर्थ श्वास नहीं है, जैसा कि प्रायः भूल से बहुत लोगों के द्वारा समझ लिया जाता है। 'प्राण' वह जीवनी शक्ति है—आत्मा की अनेक शक्तियों में से वह एक शक्ति—जो मनुष्य के शरीर के स्नायु-तन्त्र (नाड़ी-तन्त्र) सहित विभिन्न तन्त्रों, जैसे श्वसन-तन्त्र, पाचन-तन्त्र आदि को गतिमान बना कर उनके द्वारा स्थूल शरीर की चेष्टाओं को सम्भव बनाती है।

श्वास, प्राण तथा मन का परस्पर गम्भीर सम्बन्ध है। श्वास के नियन्त्रण से प्राण का नियन्त्रण किया जा सकता है और प्राण के नियन्त्रण द्वारा मन की गति-विधियों का पूर्णतया निरोध होता है। हठयोग की प्रक्रिया में प्राणायाम को साधना में सर्वोच्च स्थान दिया गया है और उसे मुख्य रूप से करना होता है। परन्तु ध्यानयोग में इसका अभ्यास गौण रूप में किया

जाता है, जिससे कि श्वास की गति लयपूर्ण और नियमित बन सके। इस (प्राणायाम-अभ्यास) से 'धारणा' अर्थात् एकाग्रता में सहायता मिलती है—इस बात में तनिक भी संदेह नहीं है। योग दर्शन में कहा गया है—

धारणासु च योग्यता मनसः।। (योग दर्शन 2.53)

इतना ही नहीं, प्राणायाम का अभ्यास नाड़ियों का शोधन भी करता है और शरीर को भी स्वस्थ रखता है। ठीक विधि से किया गया प्राणायाम शारीरिक और मानसिक शुद्धि द्वारा अज्ञान-आवरण को हटाकर ज्ञान-प्राप्ति में भी सहायक होता है—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। (योग दर्शन 2.52)

प्राणायाम के अभ्यास की अनेक विधियाँ हैं, परन्तु उनके अधिक विस्तार में न जाकर एक साधारण विधि जिसका निरापद अभ्यास सभी के द्वारा किया जा सकता है, नीचे लिखी जाती है—

पालथी लगाकर इस तरह बैठिये कि शरीर ऐसी स्थिति में रहे, जिससे मेरुदण्ड, ग्रीवा और सिर एक सीध में रहें। पालथी लगाकर यदि कोई किसी कारण से न बैठ सके तो उसे मेरुदण्ड आदि को सीधा रखते हुए कुर्सी पर ही बैठ जाना चाहिये। अपनी नासिका का दाहिने रन्ध्र अपने बायें हाथ की मध्यमा (मध्य उंगली) से बन्द कर लीजिये और नासिका के बायें रन्ध्र से बहुत धीरे-धीरे श्वास अन्दर खींचते हुए फेफड़ों को पूरा भर लीजिये। फेफड़ों के श्वास द्वारा पूरा भरने से प्राण मेरुदण्ड के निचले सिरे पर स्थित 'मूलाधार-चक्र' तक सक्रिय हो जाना चाहिये। इससे आशय यह है कि मूलबंध लग जाना चाहिये। मूलबंध का अर्थ है उपस्थेन्द्रिय तथा गुदा का अन्दर की ओर संकुचित हो जाना। तत्पश्चात्, श्वास को अन्दर धारण

किये बिना ही अपने बायें हाथ के अंगूठे से बायें रन्ध्र को बन्द रख कर, अपनी नासिका के दाहिने रन्ध्र को खोल दीजिये और इसके द्वारा श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकालिये जब तक कि समस्त वायु बाहर न निकल जाये। यहाँ तक एक पूरे प्राणायाम के चक्र का आधा भाग हो गया।

अब, बिना विश्राम किये, नासिका के दक्षिण रन्ध्र द्वारा धीरे-धीरे श्वास अन्दर खींचिये और अपनी शक्ति के अनुसार पहले की ही तरह फेफड़ों को पूरा भर लीजिये। इसके उपरान्त नासिका के बायें रन्ध्र द्वारा श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकाल दीजिये। यहाँ तक प्राणायाम के एक चक्र का शेष अर्धभाग भी समाप्त होता है।

इस प्रकार यह चारों प्रक्रियाएँ—दो श्वास अन्दर भरने की और दो श्वास बाहर निकालने की—प्राणायाम के एक पूरे चक्र को निष्पन्न करती हैं।

इन चारों प्रक्रियाओं के अभ्यास के समय उपस्थेन्द्रिय को और गुदा को अन्दर की ओर संकुचित रखना होता है तथा साथ ही साथ पेट को भी अन्दर की ओर संकुचित करके रखना होता है। भरे पेट प्राणायाम का अभ्यास वर्जित है।

आरम्भ में साधक को प्राणायाम के एक चक्र को पूरा करने में लगभग सत्तर से अस्सी सेकण्ड लगेंगे। ध्यान-अभ्यास करने से पहले, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, साधक प्राणायाम के ऐसे पाँच चक्रों के साथ अपना अभ्यास-क्रम आरम्भ कर सकता है।

(ग)(ii) सजगतापूर्वक श्वासोच्छ्वास (Conscious Breathing)

पूर्व निर्दिष्ट विधि के अनुसार सीधे होकर बैठ जाइये और धीरे-धीरे गहरे श्वास लीजिये। साथ ही साथ श्वास के आने तथा उसके बाहर जाने

की गतियों का सचेत रह कर अवलोकन (watch) कीजिये। श्वासोच्छ्वास की क्रिया यन्त्रवत् नहीं परन्तु आपकी अध्यक्षता में आपकी इच्छानुसार होनी चाहिये। कुछ समय के ऐसे अभ्यास के उपरान्त श्वास हल्का, सूक्ष्म, लयपूर्ण और नियमित हो जायेगा।

यह एक अत्यन्त सरल अभ्यास है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति—चाहे वह युवा हो अथवा वृद्ध—कर सकता है। ध्यान का अभ्यास आरम्भ करने से पहले पन्द्रह मिनट तक इस का अभ्यास कर लेना चाहिये।

सजगतापूर्वक श्वासोच्छ्वास करने की क्रिया का अभ्यास संकल्प-शक्ति (will-power) को दृढ़ करने में और मन को शान्त एवं स्थिर करने में बड़ा सहायक सिद्ध होता है। प्रत्येक साधक को चाहिये कि जब भी दिन में उसे समय मिले, इस क्रिया (conscious breathing) का अभ्यास कई बार करे। यह अभ्यास शारीरिक और मानसिक थकान को दूर करता है और स्वास्थ्य के लिए भी बड़ा उपयोगी है।

(घ) उपयुक्त स्थान और समय

साधक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने दिन-प्रति-दिन के सभी क्रियाकलापों में भगवान की उपस्थिति को प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक घड़ी अनुभव करे। परन्तु एकाग्रचित्त होकर ध्यान-अभ्यास करने के लिए, जिसमें समस्त चित्त-वृत्तियों को एक मात्र भगवान में ही केन्द्रित करने की आवश्यकता होती है, उसे अवश्य ही किसी ऐसे उचित, शुद्ध एवं शान्त स्थान पर चले जाना चाहिये जो शोरगुल से उत्पन्न विघ्न डालने वाले कोलाहल तथा अशुद्ध वायुमण्डल से मुक्त हो। यह स्पष्ट ही है कि प्रत्येक स्थान के अपने विशिष्ट स्पन्दन (vibrations) होते हैं। रसोईघर (kitchen),

अतिथि-कक्ष (drawing room), शयन-कक्ष (sleeping room), भोजन-कक्ष (dinning room), शौचालय (toilet), तथा भजन-कक्ष (meditation room)—इन सब स्थानों के अपने अलग-अलग स्पन्दन होते हैं।

वे साधक, जो साठ वर्ष से अधिक आयु वाले हो चुके हैं और सक्रिय जीवन से अवकाश ले चुके हैं, किसी ऐसे नगर अथवा गाँव के शान्त कोने में वास कर सकते हैं, जहाँ पर जलवायु समशीतोष्ण हो। अधिक अच्छा हो यदि वह कोई पवित्र स्थान हो, जो नदी के तट पर स्थित हो और वह भी तब, जब उनके पास ऐसा करने के लिए साधन सुलभ हों। ऐसे स्थान पर अन्तर्मुख होना और ध्यान करना निश्चित रूप से अधिक सरल होगा। वे साधक जिन्हें अभी सक्रिय गृहस्थ जीवन के कार्य करने हैं और जिन्हें कस्बे या नगर में व्यस्त जीवन व्यतीत करने की बाध्यता है, उन्हें एक छोटा-सा कमरा पूजा और ध्यान के लिए रखना चाहिये, यदि उनके पास पर्याप्त वास-स्थान हो। यदि ऐसा सम्भव नहीं है, तो उन्हें किसी कमरे का कोई कोना इस प्रयोजनार्थ सुरक्षित कर लेना चाहिये। वहाँ पूजा-ध्यान एवं भजन के अतिरिक्त कोई अन्य व्यवहार नहीं करना चाहिये। भजन के लिए ऐसा सुरक्षित स्थान आध्यात्मिक स्पन्दनों से परिपूर्ण (charged) होता है और इससे साधक को ध्यान-अभ्यास में सहायता मिलती है। कितने खेद की बात है कि आज के भौतिकवाद की भयंकर धारा में प्रवाहित होने वाले लोग अपने मित्र-बन्धुओं से मिलने तथा उन्हें आदर-सत्कार द्वारा प्रसन्न करने हेतु विशाल अतिथि-कक्ष (drawing room) सुरक्षित रखने के लिए तो भरसक प्रयत्न करते हैं, परन्तु भगवान तथा भगवान के स्मरण के लिये वे एक छोटे-से कमरे को सुरक्षित रखने की बात तक नहीं सोचेंगे।

ध्यान-भजन के लिए सुरक्षित स्थान अथवा कमरे में सोना नहीं चाहिये, क्योंकि इससे वहाँ प्रमाद और आलस्य के वातावरण का प्रसार होता है जो ध्यान-अभ्यास के समय आन्तरिक एकाग्रता में बाधा डालता है। यही कारण है कि प्राचीन काल में प्रत्येक भारतीय अपने घर में भजन-ध्यान के लिए एक छोटा-सा कमरा अलग रखता था, जो 'ठाकुरद्वारा' अथवा 'पूजा-गृह' कहलाता था। वह परम्परा किन्हीं-किन्हीं परिवारों में अब भी देखने को मिलती है। भजन के लिए ऐसे सुरक्षित छोटे कमरे को सन्तों और महापुरुषों के चित्रों से सजाकर रखना चाहिये, क्योंकि इन प्रतीकों के साथ सम्पर्क अथवा उनका दर्शन आप में सुषुप्त दिव्य संस्कारों को जाग्रत करने में सहायक होता है।

अनन्य चित्त होकर ध्यान करने के लिए उपयुक्त समय 'ब्रह्म-मुहूर्त्त' है, जो सूर्योदय से लगभग दो से तीन घण्टे पूर्व आरम्भ होता है। उस समय शरीर और मन दोनों ही मानो नवजीवन-प्राप्त होते हैं, इसलिए स्थिर-मन होकर एक आसन में उस समय बैठकर भजन करना अधिक सरल होता है। प्रमादी और आलसी व्यक्तियों को, जो सच्ची लगन वाले नहीं होते, छोड़कर शेष सभी के लिए यह समय उपयुक्त होता है। प्रातःकाल जल्दी उठ जाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और स्वस्थ स्वभाव है, जिसका अध्यात्म के जिज्ञासु को अभ्यास के द्वारा निर्माण कर लेना चाहिये। इस प्रकार 'ब्रह्म-मुहूर्त्त' में एक से लेकर दो घण्टे का समय प्रार्थना और ध्यान-चिन्तन के लिए सरलतापूर्वक प्रत्येक साधक निकाल सकता है। जिन का व्यवसाय इस प्रकार का हो कि यह समय उनको उपयुक्त न बैठता हो, उनको अपनी परिस्थिति के अनुसार कोई अन्य समय भजन-अभ्यास के लिए निर्धारित कर लेना चाहिये।

इसके अतिरिक्त रात्रि में शयन करने से पहले भी कुछ समय प्रार्थना और जाप करने के लिए अवश्य देना चाहिये। प्रभु-स्मरण करते-करते ही रात को सोना बहुत गुणकारी होता है, क्योंकि ऐसा करने से अवचेतन मन (subconscious mind) शयन काल की अवधि में भी स्वतः ही जाप करता रहता है। इस प्रकार निद्रा का भी भजन-स्मरण तथा आध्यात्मिक प्रयोजन की पूर्ति के लिये सदुपयोग किया जा सकता है। मन को अवचेतन अवस्था में जो सुझाव दिया जाता है, वह अधिक गहराई में जाता है। ध्यान और जाप वस्तुतः परमात्मा के स्मरण को अवचेतन मन में प्रवेश कराने की विधियां हैं।

दिन के समय भी कुर्सी पर बैठे-बैठे ही अपने कार्यालय में, अथवा कारखाने में, अथवा अपने घर में भी, प्रत्येक साधक अपने मन को तीन-चार मिनट का विश्राम दे सकता है और कुछ क्षणों के लिए मानव-जीवन के वास्तविक उद्देश्य पर विचार कर सकता है तथा आँखें बन्द करके बहुत ही नम्रता और शान्त भाव से मन ही मन भगवान से यह निवेदन कर सकता है—"प्रभो! मैं आपका ही हूँ, कृपया मुझे अपनी शरण में स्वीकार कर लीजिये।" दिन में प्रत्येक तीन-चार घण्टे के उपरान्त इस निवेदन की पुनरावृत्ति की जा सकती है। यह एक बहुत ही सरल काम है, परन्तु बहुत ही गुणकारी है। यह आप को संसार की अत्यन्त व्यस्तताओं में भी परम पिता परमात्मा के स्मरण में लगाये रखता है। और, फिर ऐसा करने में आप का लगता ही क्या है?—केवल परमात्मा तथा परमात्मा के स्मरण के प्रति सच्ची लगन व गहन अभीप्सा की ही अपेक्षा है।

(ङ) नियम-बद्धता (Regularity)

आप यदि निश्चित रूप से और शीघ्रतया उच्च आध्यात्मिक स्थिति

को प्राप्त करना चाहते हैं तो साधना-अभ्यास के प्रति सत्य-हृदय (sincere) और सदैव नियमबद्ध (regular) बनिये। ध्यान में व्यतिक्रम (व्यवधान) करने से—भले ही वह एक अथवा दो दिन का क्यों न हो—आप उन अर्जित आध्यात्मिक उपलब्धियों के, जो कि आप महीनों के निरन्तर अभ्यास के उपरान्त निष्पन्न (प्राप्त) कर पाते हैं, अधिकतर भाग को नष्ट कर डालते हैं। दीर्घकालीन और अत्यधिक नियमबद्ध एकाग्रता के अभ्यास द्वारा ही साधक ध्यान की प्रयत्न-रहित सहज-स्थिति को प्राप्त करने के योग्य बनता है।

प्रार्थना तथा ध्यान-अभ्यास में उस समय पर, जो इस कार्य के लिए निश्चित किया गया हो, बैठना एक दिन के लिए भी नहीं छोड़ना चाहिये। ध्यान-चिन्तन में एक-दो दिन का व्यतिक्रम भी आपकी साधना को अस्त-व्यस्त, अथवा कम से कम उसे शिथिल करने वाला बन जायेगा, क्यों कि एक-दो दिन का व्यतिक्रम इस प्रकार के कई दिनों के अनुगामी (बाद में होने वाले) व्यवधानों के लिए मार्ग प्रशस्त कर देगा।

"आज के अत्यधिक व्यस्त एवं कठिन जीवन में हमें नये-नये कुछ ऐसे कार्यों के लिये समय देना पड़ता है, जिन्हें हम टाल नहीं सकते"—इस प्रकार की शिकायत (complaint) आप कर सकते हैं। परन्तु आपको यह ज्ञात होना चाहिये कि आप ने परमात्मा से मिलने का (अर्थात् भजन-अभ्यास में बैठने का) समय पहले ही निश्चित कर रखा है। क्या यह शिष्ट प्रतीत होता है कि आप किसी से मिलने के लिए कोई निश्चित समय निर्धारित करें और उस निश्चित समय पर उस व्यक्ति से न मिल कर किसी दूसरे ही व्यक्ति से मिलने चले जावें और पहले व्यक्ति को प्रतीक्षा में बिठाये रखें अथवा उससे बिल्कुल मिलें ही नहीं? जब एक साधारण व्यक्ति के साथ भी

इस प्रकार का व्यवहार करना अनुचित एवं अशोभनीय माना जाता है, तो फिर उस परमेश्वर के साथ, जिसे आप सर्वोच्च आदर और वन्दना का परम पात्र मानते हों, ऐसी धूर्त्तता का व्यवहार करना कितना निर्लज्जतापूर्ण तथा अयुक्त होगा? अतः क्या किसी साधक के लिये उन व्यक्तियों अथवा पद-पदार्थ-परिस्थियों को भगवान से भी अधिक महत्त्व देना उचित प्रतीत होता है जो आखिरकार भगवान की ही रचना हैं?

(च) सद्गुरु या आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक (Spiritual Guide)

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ही पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता मानी जाती है, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में सद्गुरु का इतना अधिक महत्त्व होता है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सद्गुरु का कार्य नव-साधक (neophyte) को केवल दीक्षित करना मात्र ही नहीं होता, वरन् उसकी समस्त आध्यात्मिक यात्रा में, जिससे सद्गुरु पहले ही पूर्णरूप से सुपरिचित होते हैं, सम्यक् नेतृत्व करना होता है। सद्गुरु शिष्य के लिये उसके जीवन की समस्त परिस्थितियों में उसके आरोहण की प्रेरणादायक परम शक्ति का काम करते हैं। परन्तु 'ध्यान' के सम्बन्ध में तो साधक गुरुकृपा-सहायता तथा उनके हस्तक्षेप के अभाव में साधना के कुछ कठिन मोड़ों पर भयावह विकर्षणों के बीच घिर सकता है—ऐसे विकर्षण जिनसे आध्यात्मिक दृष्टि से सुरक्षित बच निकलना यद्यपि नितान्त असम्भव तो नहीं किन्तु अत्यन्त कठिन अवश्य है।

सद्गुरु मात्र कोरी शिक्षा देने वाले अध्यापक ही नहीं होते। वे सर्वतोधिक दयालु मित्र होते हैं, जो शाश्वत् जीवन के प्रति आपको अन्दर से जगाते हैं और ज्ञान-प्रकाश प्रदान करते हैं। शिष्य को परमार्थ के विषय में कोरी बौद्धिक मान्यताओं तथा हृदय-गत विश्वासों से ऊपर उठा कर

सद्गुरु उसको अनुभूति के राज्य में प्रवेश कराते हैं। वे शिक्षा के साथ-साथ अपने जीवंत आध्यात्मिक प्रभाव तथा अपने आदर्श जीवन के उदाहरण द्वारा सारे समाज को सद्प्रेरणा और सद्स्फूर्ति देते रहते हैं।

वे सचमुच भगवत्कृपा-प्राप्त सदगुरु ही होते हैं, जो समय-समय पर शिष्य को ऊपर उठाते एवं सहायता देते हैं—विशेषकर उस समय जब उस (शिष्य) की साधना ढीली पड़ जाती है अथवा जब किन्हीं अत्यन्त असफल और कठिन परिस्थितियों में उसका ईश्वर के प्रति विश्वास डगमगाने लगता है और वह अध्यवसाय, बल और स्थैर्य को खो बैठता है। सच्चे गुरु के जीवन्त व कल्याणकारी प्रभाव तथा दिव्य-आकर्षण से भला कौन बच सकता है! ग्रहणशील शिष्य स्वयं को सद्गुरु की अहेतुकी कृपा, निःस्वार्थ प्रेम तथा प्रकाश से सदैव घिरा हुआ पाता है। उसका आध्यात्मिक-पथ सदा सद्गुरु के दिव्य-प्रकाश से आलोकित व प्रशस्त रहता है।

सत्य के सहारे असत्य भी पर्याप्त रूप से फलता-फूलता है। यह सचमुच खेद की बात है कि वर्तमान में मिथ्या गुरुवाद का प्रसार समाज में संक्रामक रोग की तरह हो रहा है। यह ऐसी बात है, जिसको अवश्यमेव हतोत्साहित और निर्मूल करना चाहिये।

(छ) स्वाध्याय और सत्संग

पवित्र-श्रुत धर्म-ग्रंथों में सन्निहित शाश्वत सत्यों पर आक्षेप करना सत्य के साधक के लिये सहायक नहीं होता। उनके स्वाध्याय हेतु प्रतिदिन कुछ-न-कुछ समय अवश्य निकालिये, क्योंकि उनको पढ़ने से आप उन ग्रन्थों के ऋषियों के परोक्ष सम्पर्क में आते हैं। गहन श्रद्धा और पूर्ण विचार द्वारा पढ़ने तथा मनन करने से धर्म-ग्रन्थ हृदय में अवश्य दिव्य प्रेरणा देते

हैं, पाठक को ज्ञान से भरपूर करते हैं और मन को प्रशान्त बनाने में पर्याप्त सहायता प्रदान करते हैं। तोते की तरह उनका पाठ मत कीजिये। अधिक उपयुक्त यही है कि कम पढ़िये, परन्तु जितना भी पढ़िये, वह पूरी लगन और ध्यानपूर्वक पढ़िये ताकि उससे कुछ प्राप्त भी हो।

ध्यानयोग के साधक को समय-समय पर धार्मिक व्यक्तियों और उच्च-कोटि के सन्त-महात्माओं का सत्संग भी अवश्य करना चाहिये। श्रुति भगवती कहती है—

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।" (कठोप० 1.3.14)

अर्थात्, उठिये, जागिये और श्रेष्ठ महापुरुषों के द्वारा परमात्मा को जानिये।

दिव्य ज्ञान-प्राप्त महान् आत्माओं के प्रवचनों को ध्यानपूर्वक श्रवण करने से मन की अनेक शंकाओं का निराकरण होता है। ऐसे महान् व्यक्तियों के सामीप्य में अभिमानपूर्वक संसद में किसी विधेयक पर बहस करने की तरह, अथवा शिक्षाविदों की तरह किसी शैक्षिक विषय पर गोष्ठी करने की तरह उनसे परमात्मा सम्बन्धी तर्क-वितर्क करने के लिए नहीं जाना चाहिये। उनके पास वाक्युद्ध करने अथवा अपने बुद्धि-कौशल के प्रदर्शन के लिये नहीं जाना चाहिये। उनके साथ व्यर्थ के तथा खोखले तर्क-वितर्क भी नहीं करने चाहिये। बल्कि, उनके सामीप्य में तो अनुभूति का मौन सम्प्रेषण तथा विचारों-भावनाओं का मौन आदान-प्रदान होना चाहिये। ज्ञान-प्राप्ति की अभीप्सा लेकर बड़े आदर से और प्रेमपूर्वक अपनी शंकाएँ उनके समक्ष रखकर उनसे समाधान कराना चाहिये—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।" (गीता 4.34)

यथार्थ बात तो यह है कि परमात्मा ही अपने भक्तों और सन्तों के माध्यम से वार्त्तालाप करता है। ऐसे सिद्ध-भक्तों व संतों के पास बड़ी श्रद्धा और विनय के साथ उन्हें सुनने के लिये जाना चाहिये। ठीक-ठीक सुनना बहुत ही कठिन है। सुनने की क्षमता केवल सजग और शान्त मन में ही होती है जो अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त हो। जो कुछ वे कहें उसका श्रवण बड़े ही ध्यान से करिये तथा उनके उपदेशानुसार अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न कीजिये। ऐसा करने से आपको इहलौकिक तथा पारलौकिक शान्ति प्राप्त होगी।

(ज) संतुलित जीवन (Balanced Living)

अनेक साधक अध्यात्म और परमार्थ में शीघ्र-अतिशीघ्र लम्बी छलांग लगाने की आशा में अज्ञानवश अनेक प्रवृत्तियों में अति करने के कारण गहन आन्तरिक पैठ करने में स्वयं बाधा उपस्थित कर लेते हैं। आध्यात्मिक अनुभव के क्षेत्र में प्रवीणता प्राप्त करने वाले सभी साधकों ने मुक्त कण्ठ से युक्ताहार-विहार को योग-मार्ग में सर्वतोधिक सहायक के रूप में स्वीकार किया है और तदनुसार शिक्षा भी दी है। गौतम बुद्ध जैसी महान् आत्मा को भी अत्यन्त कठोर तप का मार्ग छोड़ना पड़ा था और 'बोधिसत्त्व' के महान् पद की प्राप्ति के लिए 'मध्यम मार्ग' (Middle Way) को ही अपनाना पड़ा था। उनके जीवन की एक शिक्षाप्रद घटना, जिसने उनकी साधना की दिशा को बदल दिया था, यहाँ देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

महात्मा बुद्ध ने शान्ति प्राप्ति के अनेक उपाय किये, परन्तु अभी उनको अपने इस लक्ष्य में सफलता नहीं मिली थी। अतिशय तप करने से उनके अन्दर कई प्रकार की सिद्धियाँ तो आ गई थीं, परन्तु उनकी आत्मा

अभी स्वरूपभूत प्रशान्त स्व-स्थिति को उपलब्ध नहीं कर सकी थी। एक बार वन में वे एक स्थान पर आसन लगा कर बैठ गये तथा आत्म-बोध होने पर्यन्त वहाँ से न उठने का संकल्प कर लिया। खाना-पीना, निद्रा और विश्राम तथा संसार की समस्त इच्छाओं का पूर्ण त्याग करके वे बैठे थे अचल होकर। उनकी धारणा उस समय थी, उनके अपने ही शब्दों में—

"इहासने शुष्यतु मे शरीरं; त्वगस्थि मांसानि लयं प्रयान्तु।
अप्राप्य बोधा बहुकल्प दुर्लभं, नैवासनात् कायमिदं चलिष्यति।।"

"इसी आसन में मेरा शरीर भले ही सूख जाये, त्वक्, अस्थि और मांस भले ही गल जायें, परन्तु बहुकल्प दुर्लभ 'बोध' प्राप्त किये बिना मैं इस आसन का त्याग नहीं करूँगा।"

इस धारणा को लेकर वे कई दिन भूखे-प्यासे तथा बिना निद्रा या विश्राम लिये एक ही आसन पर बैठे रहे। भगवान की लीला के रहस्यों को कौन समझ सकता है! एक दिन संयोग से एक नर्तकी अपने कुछ संगियों के साथ घूमने के लिये उस ओर निकली। वह एक गीत गा रही थी, जिसके एक पद का अर्थ था—

"सितार के तारों को ढीला मत छोड़ो कि वे बेसुर हो जायें, परन्तु उनको इतना अधिक भी मत कसो कि वे टूट ही जायें और उनसे राग निकलना ही बन्द हो जाये।"

गीत की इस पंक्ति ने महात्मा बुद्ध के हृदय पर सीधा आघात किया और उनको अपनी भूल ज्ञात हुई। उनको यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगा कि अतिशय हठ और अयुक्त बल-प्रयोग का मार्ग सम्यक् बोध की उपलब्धि के लिए यथार्थ मार्ग नहीं। तदुपरान्त वे अत्यन्त हठ के और उग्र शारीरिक

तप के मार्ग को त्याग कर युक्त आहार-विहार रूपी 'मध्यम-मार्ग' के द्वारा सत्य-अनुसंधान करने लगे और उन्होंने शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर ली।

जैसे खेती अत्यधिक जल देने से भी सूख जाती है और जल बिल्कुल न देने से भी सूख जाती है, उसी प्रकार आध्यात्मिक साधना की योग-पद्धति की भी बात है। उसमें अत्यन्त प्रवृत्ति भी बाधक होती है और विवेक-रहित अतिशय त्याग भी बाधा ही डालता है। साधक के सामने एक ओर जहां नश्वर पदार्थ-परिस्थियतियों में अत्यधिक लिप्त हो जाने का आकर्षण है तो दूसरी और अत्यधिक निवृत्त हो जाने का भी आकर्षण-प्रलोभन होता है। विवेकशील साधक सदा मध्यम-मार्ग का अनुसरण करता है। निद्रा, आहार, जागरण, शयन, पहनने तथा अन्यान्य सभी कार्य-कलापों में सम्यक्, अर्थात् तारतम्यपूर्ण व्यवहार ही योग-साधना में सफलता का हेतु होता है। गीता के छठे अध्याय में भगवान ने अपने श्रीमुख से अर्जुन को इस सम्बन्ध में बताया है—

"नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।" (गीता 6.16,17)

"हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले का सिद्ध होता है, न ही बिल्कुल न खाने वाले का; और न अति शयन करने के स्वभाव वाले का तथा न ही अत्यन्त जागने वाले का यह योग सिद्ध होता है। दुखों का नाश करने वाला योग तो यथा-योग्य आहार और विहार करने वाले का

तथा कर्मों में यथा-योग्य चेष्टा करने वाले और यथा-योग्य शयन करने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।"

जन्माष्टमी के अवसर पर एक वक्ता ने श्रोताओं के समुदाय के समक्ष मध्यम-मार्ग को सुन्दरता से रेखांकित करते हुए कहा—"भगवान् कृष्ण का अवतार वर्ष के बीचों-बीच वाले भादो माह में हुआ; उनका जन्म भी दिन और रात के बीच मध्य-रात्रि को हुआ। इस प्रकार उनका जन्म युक्ति-युक्त मध्यम-मार्ग का प्रतीकात्मक है।"

अतएव साधक को यह अच्छी तरह हृदयंगम कर लेना चाहिये कि आध्यात्मिक राज्य में आन्तरिक प्रवेश तथा एकाग्रता पर पूर्ण स्वामित्व अति बल-प्रयोगात्मक यत्न (violent effort) के द्वारा नहीं बल्कि सम्यक् रीति-विधि, बुद्धिमता, युक्ति तथा अनवरत जागरूकता के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। सर्वोच्च आध्यात्मिक जीवन का परम रहस्य है—सक्रियता और निष्क्रियता में, प्रवृत्ति और निवृत्ति में, स्नेह और उपरामता में तथा भक्ति, ज्ञान और सेवा के भावों में सम्यक् सन्तुलन।

ॐ! ॐ!! ॐ!!!



कुछ आन्तरिक अनुभव



कुछ आन्तरिक अनुभव

अन्तर्मुखी वृत्ति वाले साधक को, जो चेतना की गहरी प्रशान्त अवस्थाओं में आन्तरिक पैठ करता है, ऐसे कुछ अनुभव एवं दर्शन अवश्य होने चाहियें, जिनकी उपलब्धि जीवन के बाह्य क्रिया-कलापों में व्यस्त साधारण मनुष्य के लिए उसकी शक्ति के बाहर होती है। यह दर्शन एवं अनुभूतियाँ विभिन्न साधकों को विभिन्न क्रम से प्राप्त होती हैं। इतना ही नहीं, इन अनुभूतियों के प्रकारों में भी विभिन्न साधकों की अपनी-अपनी आध्यात्मिक स्थिति, उनके व्यक्तिगत झुकाव, साधना-पद्धति तथा शारीरिक रचना के अनुसार अन्तर पड़ सकता है।

यह कथन कि प्रत्येक साधक के आन्तरिक अनुभवों में विभिन्नता हो सकती है, किसी-किसी व्यक्ति द्वारा यह शंका उपस्थित करा सकता है—"क्या ये अनुभूतियाँ साधकों के अपने मन द्वारा ही रचे गये 'वायु स्थित भवनों' की तरह इन्द्रजाल नहीं होतीं?" नहीं, वह सब इन्द्रजाल नहीं है। एक उदाहरण द्वारा यह कथन स्पष्ट हो जायेगा। कल्पना करिये कि आप अलग-अलग कुछ मनुष्यों को एक ही बाजार में वहाँ की वस्तुओं पर एक विहंगम-दृष्टि डाल आने को भेजते हैं। उनके लौटने पर जब उनसे अलग-अलग यह पूछते हैं कि उनमें से प्रत्येक ने वहाँ क्या-क्या वस्तुएँ देखी थीं तो प्रत्येक व्यक्ति अपने द्वारा देखी गई वस्तुओं के सम्बंध में भिन्न-भिन्न सूचनाएं देता है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही अलग-अलग गाथा गाता

है—उनकी सूचियों में अन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होता है। ऐसा क्यों होता है? इस कारण से कि उनके द्वारा देखी गई वस्तुओं के बारे में दी गई सूचियों में अन्तर है, क्या यह कहना उचित होगा कि प्रत्येक ने जो भी वस्तुएँ देखीं, वे मन-रचित 'वायु स्थित भवनों' के अतिरिक्त और कुछ नहीं था? नहीं। इस विभिन्नता का कारण वस्तुतः यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी व्यक्तिगत स्थिति और अपने-अपने विशिष्ट संस्कार होते हैं। अतएव प्रत्येक व्यक्ति किन्हीं ऐसी वस्तुओं की ओर आकर्षित हो जाता है, जिनकी ओर अन्य व्यक्ति बिना ध्यान दिये ही चले जाते हैं। परिणामस्वरूप कई वस्तुएँ जो एक को दिखाई देती हैं, वहाँ विद्यमान होते हुए भी दूसरे के ध्यान में नहीं आतीं। यही बात आन्तरिक अनुभूतियों के विषय में भी समझनी चाहिये।

दूसरी बात यह कि उपरोक्त विभिन्नता के होने पर भी कुछ ऐसी प्रमुख वस्तुएँ अथवा बिन्दु भी होते हैं, जो प्रत्येक व्यक्ति के ध्यान को आकर्षित कर लेते हैं, भले ही ऐसा बहुत थोड़े समय के लिए ही क्यों न हो। इसी प्रकार विभिन्न साधकों की आन्तरिक अनुभूतियों में अन्तर होने पर भी कुछ ऐसी सामान्य (common) अनुभूतियाँ भी अवश्य होती हैं, जो प्रमुख कही जा सकती हैं। ऐसी ही प्रमुख अनुभूतियों में से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है—

(1) अन्तर्मुखता की आरम्भिक अवस्था में कुछ सूक्ष्म परन्तु स्पष्ट ध्वनियाँ जैसे धीमी गति से मृदंग-वादन, किसी नदी की प्रवाह-जनित ध्वनि, मेघों की-सी गर्जना अथवा मधुमक्खियों की भिनभिनाहट सरीखी ध्वनि आदि दक्षिण कान द्वारा मस्तिष्क में सुनाई देती है। कुछ प्रतीकात्मक रंग भी भृकुटी-मध्य दृष्टिगोचर होते हैं। ये रंग अथवा ध्वनियाँ पांच

अपंचीकृत भूतों (तन्मात्राओं)—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश से सम्बंधित होते हैं और अस्थिर रह कर क्रमशः आते-जाते रहते हैं।

थोड़ी अन्तर्मुखता की अवस्था में इन ध्वनियों के सुनाई देने और रंगों के दृष्टिगोचर होने पर कुछ साधक यह कल्पना करने लगते हैं कि ध्यान में वह बहुत आगे बढ़ गये हैं। यह उनकी इस विषय में अल्प जानकारी और अल्प अनुभूति का परिचायक है। इन ध्वनियों को सुनने अथवा रंगों को देखते रहने में कुछ आध्यात्मिक श्रेष्ठता नहीं है। ये अनुभव सूक्ष्म भौतिक जगत् के साथ मन का सम्पर्क होने मात्र से चेतना में प्रतिबिम्बित हुई तन्मात्राओं के कारण से होते हैं।

ये ध्वनियाँ और रंग वस्तुतः मानसिक चेतना का विघटन (disintegration) करते हैं और आन्तरिक एकाग्रता की प्रगति में बाधा डालते हैं। अतएव इनके अनुभव में आने पर प्रसन्न नहीं होना चाहिये और न ही उनका रसास्वादन करना चाहिये। योग प्रवीण सिद्ध महापुरुष इनको महत्त्वहीन रंग व ध्वनियों (empty colours & useless sounds) के नाम से सम्बोधित करते हैं।

(2) वृत्ति के कुछ और अधिक अन्तर्मुखी होने पर साधक का सम्पर्क प्राणिक लोक (astral world) के साथ हो जाता है, जिसके कारण उसे प्राणिक स्तर की अनेकानेक वस्तुओं, अवस्थाओं, शक्तियों और प्राणियों के दर्शन एवं अनुभव होते हैं। बहुत बार साधक को कानों में मानो संदेश देती हुई वाणियाँ सुनाई पड़ती हैं। कभी-कभी हमें ऐसे संदेश भी सुनाई देते हैं, जो बिल्कुल स्पष्ट होते हैं, परन्तु इनमें से कुछ ही ऐसे होते हैं, जो सत्य पर आधारित होते हैं, और बहुत से ऐसे होते हैं जो मिथ्या होते हैं तथा भ्रम में डालने वाले होते हैं। इस अवस्था में साधक को पूरी तरह सतर्क

रहना चाहिये और किसी भी सन्देश, वाणी अथवा सुझाव का अन्धाधुन्ध अनुकरण नहीं करना चाहिये। इसके अतिरिक्त इस अवस्था में ध्यान के समय अगणित दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं। प्राणिक लोक के निम्न स्तर से कई प्रकार के भयानक दृश्य, परन्तु उच्च स्तरों से कई प्रकार के मन को लुभाने वाले दृश्य भी सामने आते हैं। इनमें अधिकतर दृश्य तो प्राणिक लोक (astral world) की वस्तुओं, अवस्थाओं, शक्तियों और प्राणियों के प्रतीकात्मक प्रतिरूप (symbolic representations) होते हैं, जब कि कुछ एक अनुभवों के द्वारा उस लोक की वास्तविक घटनाओं का भी दिग्दर्शन होता है। साधक के लिए यह उचित है कि वह ऐसे अस्थिर दृश्यों अथवा सुनाई देने वाली वाणियों में संलग्न न हो और न ही उनके साथ अपना कुछ सम्बंध जोड़े। उसे चाहिये कि वह उनको बिना किसी लगाव के देख-सुन कर उनकी उपेक्षा करता रहे और अधिकाधिक अन्तर पैठ कर एकाग्रता-लाभ करने का प्रयत्न करे। वास्तव में परमात्मा के प्रति सच्ची लगन और निष्ठा वाले साधक इस स्थिति में अधिक समय तक अटके नहीं रहते, बल्कि सुरक्षित और शीघ्रता से इससे आगे बढ़ जाते हैं।

(3) (क) प्राणिक जगत् को पार कर लेने के उपरान्त एकनिष्ठ एकाग्रता (one-pointed concentration) अधिक शक्तिशाली हो जाती है तथा शीघ्र ही परिपक्व हो जाती है। अब साधक को उच्चतर लोकों की मन को ऊपर उठाने वाली आनन्दप्रद अनुभूतियाँ होने लगती हैं। उच्चावस्था प्राप्त सन्त—वे जीवित हों अथवा दिवंगत—प्रायः 'ध्यान' में प्रगट होते हैं। वे साधक को आशीर्वाद देने तथा उसकी सहायतार्थ आते हैं। उनका अभिनन्दन एवं स्तुति करनी चाहिये। किसी-किसी समय वे आध्यात्मिक विषयों पर वार्त्ता करते हैं और साधक का पथ प्रदर्शन करते हैं।

(ख) इस अवस्था में देवी-देवताओं के भी दर्शन होते हैं। ध्यान में साधक के इष्टदेव भी अनेक बार साक्षात प्रगट होते हैं। इतना ही नहीं, वे साधक की उस समय भी, जब वह शान्त मानसिक स्थिति में खुले-नेत्र ही बैठा हो अथवा लेटा हुआ हो, दर्शन देते हैं। ऐसी अनुभूतियाँ अत्यधिक आनन्द प्रदान करती हैं और मन का उत्थान करती हैं। ऐसे दर्शनों का मधुर, शान्त एवं सुखद प्रभाव मन पर कई दिनों तक बना रहता है।

(ग) 'ध्यान' में किन्हीं-किन्हीं अवसरों पर दूरस्थ स्थानों में होने वाली घटनायें अथवा भविष्य में घटित होने वाली घटनायें पूर्ण विस्तार के साथ चेतना में प्रतिबिम्बित होती हैं। दूसरे के मन के विचारों को भी जान लेने की शक्ति का साधक में प्रायः प्राकट्य होता है। इस अवस्था में साधक अत्यधिक सरलता से परा-दर्शन (clairvoyance), परा-श्रवण (clairaudience) और परा-अनुभूति (telepathy) की शक्तियों का विकास, यदि वह ऐसा करना चाहे, तो कर सकता है; परन्तु ऐसा करना उसकी आध्यात्मिक प्रगति को अवरुद्ध कर देता है। सिद्ध महात्माजन (adepts) इसी कारण साधक को सदैव इस बात की चेतावनी देते रहते हैं कि वह इन अस्थायी मानसिक शक्तियों या विभूतियों (अथवा सिद्धियां, जैसा कि योग की भाषा में उन्हें पुकारा जाता है) की ओर आकृष्ट न हो तथा उनसे बचे।

(घ) इस अवस्था में पहले कहे गये प्रकाश से अधिक सक्रिय तथा उच्चकोटि के प्रकाश-दर्शन भी प्रायः होते हैं। एक चकाचौंध करने वाला स्वर्णिम प्रकाश किसी-किसी समय जब आप शान्त-चित्त होकर बैठे अथवा लेटे होते हैं, आपके खुले नेत्रों के सम्मुख प्रगट होता है और संसार की समस्त वस्तुएँ इसमें लय हो जाती हैं। ऐसा दर्शन कुछ ही समय तक स्थिर

रहता है। इस प्रकार के प्रकाश-दर्शन कुछ अन्य भावी आध्यात्मिक अनुभूतियों के संकेत-चिह्न होते हैं।

(ङ) साधक को वक्ष-मध्य-स्थित 'अनाहत-चक्र' से प्रगट होता हुआ प्रकम्प उत्पन्न करने वाला एक अद्भुत शब्द सुनाई देता है, जो तुरन्त ही विद्युत-धारा की तरह समस्त शरीर में व्याप्त हो जाता है। इस स्थिति में साधक को बाह्य संसार का कुछ भी भान नहीं रहता। लगभग पन्द्रह मिनट के उपरान्त यह शब्द-ध्वनि 'आज्ञा-चक्र' में केन्द्रित हो जाती है और तत्काल ही चकाचौंध करने वाले प्रकाश (dazzling light) में परिवर्तित हो जाती है। यह अनुभव अत्यधिक आनन्दप्रद होता है।

ध्यान-अभ्यास के समय मस्तक पर कुछ ऐसे शब्द दिखने लगते हैं मानो वे विद्युत-लिखित हों। किसी-किसी समय वे बहुत ही स्पष्ट होते हैं और प्रत्येक शब्द स्पष्ट रूप से पढ़ा जा सकता है।

उपरोक्त अनुभूतियाँ प्रायः उनको ही प्राप्त होती हैं, जो प्रतिदिन दीर्घकाल तक मन्त्र-जाप का अभ्यास करते हैं।

(4) चेतना की जब पर्याप्तरूपेण गहन आन्तर-पैठ हो जाती है तो ऐसे क्षणिक दृश्य और प्रकाश दिखने बन्द हो जाते हैं और आप ऐसे आन्तरिक आध्यात्मिक आनन्दोन्माद का अनुभव करने लगते हैं जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। यह एक ऐसी आन्तरिक मस्ती है कि आप बेबस होकर अन्दर की ओर खिंचे चले जाते हैं। इस अवस्था में संसार के सारहीन प्रलोभन साधक को चमत्कृत (charm) करने की शक्ति खो बैठते हैं और साधक बारम्बार एकान्त स्थान में अकेला बैठना तथा इस आन्तरिक आनन्द का ही आस्वादन करते रहना चाहने लगता है।

इस स्थिति में पहुँच कर साधना में एक नया परिवर्तन घटित होता है और यह (साधना) अधिक और अधिक सहज होने लगती है। व्यक्तिगत स्व-प्रयत्न का भाव लुप्त होने लगता है, परन्तु साधना पहले से भी शक्तिशाली और गति में क्षिप्र हो जाती है।

(5) इससे और आगे प्रगति करने पर यह आध्यात्मिक आनन्दोन्माद भी एक अनिर्वचनीय गहन शान्ति में विलीन हो जाता है। समस्त बाह्य और आन्तरिक जगत् का भान पूर्णतया विलुप्त हो जाता है और चेतना पुनः अपने निष्क्रिय शान्त भाव में अवस्थित हो जाती है। इस स्थिति में बन्धन और मोक्ष और दुःख और सुख की प्रतीति का अन्य सभी द्वन्द्वों सहित बाध हो जाता है। तमोगुण, सुषुप्ति, प्रमाद अथवा अन्धकार का यहाँ सर्वथा अभाव है। कैवल्यभूत चेतना—शान्त, निर्गुण एवं अविकारी चिद्-सत्ता ही शेष रहती है। नवीन वेदान्तियों के मतानुसार यह ब्रह्मलीनता की वास्तविक स्थिति है। इस स्थिति को ही बौद्ध रहस्यवादी सन्तों ने 'निर्वाण' की संज्ञा दी है, जहाँ पहुँचकर नामरूप जगत् सर्वथा शून्य हो जाता है; शून्य का अर्थ उनकी दृष्टि में 'नास्ति' नहीं है, जैसा कि बहुत लोग समझते हैं, परन्तु नामरूप-शून्य 'अस्ति' अथवा नामरूप-विहीन 'अस्ति' है। असंग, अविकारी एवं निर्गुण आत्मा की अपरोक्षानुभूति साधक को सत्, रज् और तम् रूपी तीन गुणों के विकारों से नितान्त मुक्त कर देती है। इस अनुभव-स्थिति से तनिक व्यतिक्रम होने पर, जब मन पुनः प्रगट होता है, जगत् छाया की भाँति सारहीन, मिथ्या, त्रिगुणमयी माया का मिथ्या और निष्प्रयोजन विलास मात्र प्रतीत होने लगता है।

यहाँ यह जान लेना चाहिये कि किसी बौद्धिक निश्चय अथवा मत के अनुसार जगत् को मिथ्या कहना अथवा मानना एक बात है और स्वानुभूति के द्वारा इसे मिथ्या प्रतीत करना सर्वथा दूसरी बात है। जगत्

के मिथ्या होने की स्थायी अनुभूति उसी को होती है, जिसे निष्क्रिय, निर्गुण आत्मा का अपरोक्ष अनुभव हुआ हो; परन्तु किसी युक्ति के आधार पर अथवा जगत् की क्षणभंगुरता को देखकर इस जगत को कोई भी मिथ्या मान सकता है अथवा मिथ्या कह सकता है।

निष्क्रिय एवं शान्त आत्मा की अपरोक्षानुभूति तथा इस कारण साथ ही साथ, तज्जन्य संसार का मिथ्या, सारहीन और निष्प्रयोजन प्रपंच मात्र भासना (प्रतीत होना) यद्यपि आध्यात्मिक क्षेत्र में एक बहुत उच्चकोटि का अनुभव है, तो भी यह स्मरण रहे कि अध्यात्म की यही अन्तिम अथवा पूर्ण अनुभूति नहीं है।

(6) इससे और आगे बढ़ने पर, चेतना अपने अविकारी-अचल स्वरूप में स्थित रहती हुई ही मानो बाहर की ओर देखती है और 'सर्व' को आत्मसात् करने लगती है और धीरे-धीरे 'सर्व' में तथा 'सर्व' के साथ अपने स्वरूपभूत सर्वात्मैक्य (सर्व के साथ अपनी एकता) को उपलब्ध कर लेती है।

अध्यात्म की पूर्ण एवं अन्तिम उपलब्धि तक पहुँचने के लिए अभी बीच की दो और अनुभूतियों को प्राप्त करना पड़ता है, परन्तु इनका विवरण यहाँ नहीं देना है। पूर्ण आध्यात्मिक उपलब्धि में सगुण और निर्गुण, साकार और निराकार, शिव और शक्ति, पुरुष और प्रकृति, निष्क्रिय और सक्रिय आत्मा, तथा परमात्मा, जीव और जगत् के बीच की खाई पूर्णतया पट जाती है; अथवा यों कहिये कि उस एकमेवाद्वितीय अस्तित्व के वे सभी भाव, शक्तियाँ तथा स्वरूप (aspects) जो मानसिक चेतना के स्तर पर 'खड़े' जीव (मनुष्य) को भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, परब्रह्म पुरुषोत्तम में तर्कातीत एवं अचिन्त्य ढंग से समन्वित होकर एक हो जाते हैं।

ॐ! ॐ!! ॐ!!!

प्रार्थना

प्रार्थना

प्रार्थना, अपने सच्चे अर्थों में, संकल्प-शक्ति का एक विनम्र और रचनात्मक (creative) कार्य है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने हृदय को परमात्मा के सम्मुख उड़ेल देता है। प्रार्थना द्वारा हम अपने लिए अथवा दूसरों के लिए किसी वस्तु की याचना कर सकते हैं अथवा किसी भी वस्तु की याचना न करते हुए श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक उस परम पिता परमात्मा का स्तवन करते हैं, जिसको हम परम महान्, सर्वप्रकार की वन्दना, आदर और प्रेम का सुयोग्य परम-पात्र मानते हैं।

प्रत्येक प्रार्थना का—उसका रूप चाहे कुछ भी हो—अभ्यास करने के लिए अथवा भगवान द्वारा उसके सुने जाने तथा विशेष रूप से उसकी पूर्ति होने के लिए पूर्वापर (in advance) जिन तीन बातों की आवश्यकता होती है, वे ये हैं—

(क) उस परमात्मा के अस्तित्व में, जो दयालु भी है और साथ ही सर्वशक्तिमान भी, दृढ़ विश्वास अथवा निश्चय।

(ख) प्रेम और श्रद्धा का उत्कट भाव अथवा किसी (सांसारिक) आधिभौतिक (material), मानसिक या आध्यात्मिक आवश्यकता की प्रतीति।

(ग) कुछ सीमा तक संकल्प-शक्ति की एकाग्रता तथा हृदय की विनम्रता (humbleness)।

केवल वाणी द्वारा पढ़ी-बोली गई प्रार्थना, जिसमें उपरोक्त तीनों बातों का ही अभाव हो, 'तोते की रट' ही होती है और इससे अधिक कुछ नहीं।

समस्त न्यायोचित (legitimate) प्रार्थनायें जो निर्मल और सच्चे हृदय से की जाती अथवा निकलती हैं (न कि वे प्रार्थनायें जो बिना उत्कट भावना के केवल वाणी द्वारा ही की जाती हैं) निश्चित रूप से सुनी जाती हैं और स्वीकृत होती है। यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी परिपुष्टि बार-बार सैकड़ों प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा की गई है। सत्य सदैव सत्य ही होता है, भले ही कोई व्यक्ति उसको विज्ञान के आधार पर अथवा युक्तियों की सहायता से प्रमाणित कर सके या न कर सके। सच्ची प्रार्थना में अतुलनीय महान् शक्ति होती है और वह आश्चर्यजनक कार्य कर डालती है।

दिव्य जीवन के साधक की साधना प्रार्थना के बिना पूरी नहीं होती, अतएव वह (प्रार्थना) उसे अपनी आध्यात्मिक यात्रा के प्रत्येक पग पर अवश्य करनी चाहिये। प्रार्थना जितनी अधिक शान्तिपूर्ण व अहंभाव से मुक्त होती है उतनी ही अधिक प्रभावकारी होती है। क्योंकि जितना अधिक हम अहं से मुक्त होते हैं उतना ही अधिक भागवती कृपा हमारे अन्दर सक्रिय बनती है और परिणामस्वरूप उतना ही अधिक हम परमात्मा के निकट पहुँच पाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि किस उद्देश्य को दृष्टि में रख कर मनुष्य को प्रार्थना करनी चाहिये तथा किस प्रकार उसे परमात्मा की वन्दना और स्तुति करनी चाहिये। इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न व्यक्तियों की न्यायोचित आवश्यकताओं तथा उनकी आध्यात्मिक और नैतिक स्थितियों पर आधारित होगा। फिर भी एक संक्षिप्त प्रार्थना जो प्रायः सभी प्रकार के साधकों के लिए उपयुक्त हो सकती है और जिसे समस्त साधकों को दैनिक ध्यान-अभ्यास प्रारम्भ करने से पहले अवश्य करनी चाहिये, यहाँ दी जाती है—

"स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथोधिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ।।"

"हे अशरण शरण! हे जगत्पते! विश्व का मंगल हो। दुष्ट पुरुष अनुकूल हों। समस्त प्राणी आपस में मिलकर कल्याण-कामना करें। उनका चित्त अपने मंगल की ओर प्रवृत्त हो और हमारा चित्त अकारण ही आप में लग जाये।"

हे परमदेव प्रभो! आप परम शुद्ध, अनन्त शक्ति स्वरूप, अनन्त ज्ञान स्वरूप, अनन्त आनन्द स्वरूप तथा अनन्त प्रेम एवं ज्योति स्वरूप हैं। परम कृपालु देवाधिदेव! आपको नमस्कार हो, बारम्बार नमस्कार हो।

हे विश्वमय तथा विश्वातीत एकमेव अद्वितीय परमेश्वर! मैं आपकी शरण हूँ, मुझे अपना लो, मुझे अपना बना लो, मुझे सँभार लो, अपने वरद् हस्त के द्वारा मुझे पूर्ण अभय कर दो। प्रभो! मैं आपका हूँ, आपका हूँ। मैं जैसा-कैसा हूँ, आपका ही हूँ, जैसा-कैसा भी हूँ, आपकी ही शरण में हूँ।

हे सर्वेश्वर! आपकी कृपा से मेरा शरीर स्वस्थ हो, मेरी भावनायें पवित्र हों; मेरा मन निर्मल, स्थिर और शान्त हो, मेरी बुद्धि सूक्ष्म और सत्य-परायण हो। प्रभो! आपकी महती कृपा से मेरा समस्त जीवन पवित्र तथा विकसित बन कर निरन्तर आपके स्मरण में, आपकी सेवा में और आपके ही ध्यान-चिन्तन में व्यतीत हो।

हे दीनदयालु परमपिता! मुझे ऐसा बल दो कि मैं आपको खोज सकूँ और आपको प्राप्त कर सकूँ। मुझे ऐसा बल दो कि मैं अपने स्वरूप का अनुसंधान कर सकूँ और उसे अनुभव कर सकूँ। प्रभो! मुझे ऐसा बल दो कि मैं सत्य को देख सकूँ और उसे जीवन में भी उतार सकूँ।

हे पूर्ण! मेरी अपूर्णताओं को पूर्णता में बदल दो, मेरी समस्त त्रुटियों को पूर्णतया मिटा दो। प्रभो! मुझे अपने में मिला कर पूर्ण कर लो।

आपके प्रति मेरा सहस्त्रों बार प्रणाम।

ॐ! ॐ!! ॐ!!!

आरम्भ कीजिये—अभी

और

यहीं से



आरम्भ कीजिये—अभी और यहीं से

"भजन आतुरी कीजिये और बात में देर।
और बात में देर, जगत् में जीवन थोड़ा।
मानुष तन-धन जात, गोड़ धर करो निहोरा।।
कंच महल के बीच, इक पंछी रहिता।
दस दरवाजा खुला, उड़न को नित उठ चहिता।।
भज लीजे भगवान, इसी में भला है अपना।
आवागमन छुट जाये, जन्म की मिटे कल्पना।।
पलटू अटक न कीजिये, चौरासी का फेर।
भजन आतुरी कीजिये, और बात में देर।।"

गत कुछ वर्षों की बात है कि एक साधन-सम्पन्न, सुन्दर स्वास्थ्य वाले सज्जन ने, जिनके पास अपार धन-सम्पत्ति थी, मुझसे कहा—"मैंने जीवन में सभी प्रकार के सुख भोग लिये हैं, अब से चार मास उपरान्त मैं अपनी पूरी वृत्ति और शक्ति भगवान की उपासना और ध्यान में पूर्णतः लगा दूँगा।" वे सज्जन उस समय अपनी घर-गृहस्थी के किसी तथाकथित (so called) आवश्यक कार्य में संलग्न थे, जिसे चार मास के अन्दर ही निपटा लेने तथा तत्पश्चात् पूरी तरह भगवत्स्मरण में लग जाने की वे आशा करते थे। इस बात के लगभग डेढ़ मास पश्चात् मुझे ज्ञात हुआ कि वे सज्जन कुछ ही दिनों की रुग्णता के बाद इस संसार से कूच कर गये। किसको ज्ञात है कि मृत्यु के समय वे क्या-क्या विचार और कामनायें साथ ले गये?

एक दूसरे सज्जन हैं, जिन्हें अपने दिये वचन और कार्यक्रम के अनुसार अपने एकमात्र प्रिय पुत्र की शिक्षा, विवाह और उसके जीवन में काम-धन्धा सम्भाल लेने के उपरान्त परमार्थ रूप परमात्मा के अनुसन्धान में सच्चे हृदय से पूर्णरूपेण संलग्न हो जाना था। उनके पुत्र की शिक्षा पूरी हो चुकी है, विवाह हो चुका है और किसी समृद्ध कार्य-व्यवसाय में भी वह लग चुका है, परन्तु पुत्र का पिता—आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अभागा व्यक्ति—घर में अभी भी पौत्रों के साथ खेल रहा है और अब वह अपने पौत्रों तथा भावी परपौत्रों के सांसारिक कल्याण की योजनायें निर्माण करने में लगा है।

'माया' का यह कितना निराशाजनक अट्टहास है? जो मनुष्य मानव-देह पाकर भी पक्षियों की तरह घर में ही आसक्त रहता है और परमार्थ के प्राप्त्यार्थ कुछ पुरुषार्थ नहीं करता, उस जैसे प्रमादी एवं पतित व्यक्ति को सद्-शास्त्रकारों ने 'आरूढ़-च्युत' की संज्ञा दी है—

"यः प्राप्य मानुषं देहं मुक्तिद्वारमपावृतम् ।
गृहेषु खगवदासक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ।।"

ये दो दृष्टान्त जिनका ऊपर विवरण दिया गया है, विरले नहीं हैं और विरले समझ कर उनकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। भगवान के भजन के सम्बंध में इस संसार में अधिकतम व्यक्तियों की साधारण प्रवृत्ति इसी प्रकार की है। अधिकतर लोगों को हम ऐसा कहते सुनते हैं—"हमारा अमुक-अमुक कार्य समाप्त हो जाने दो, हमें अपने अमुक-अमुक कर्त्तव्य पूरे कर लेने दो और तत्पश्चात् हम अनन्य चित्त होकर भगवान के ध्यान- भजन में लग जायेंगे और एकमात्र प्रभु-भजन-मय जीवन ही व्यतीत करेंगे।" परन्तु अनुभव में यह आता है कि अधिकतम व्यक्ति—यद्यपि शत-प्रतिशत नहीं—न तो जीवन की अन्तिम घड़ियों तक अपने सांसारिक

कार्य ही पूरे कर पाते हैं और न ही अपने समस्त कर्त्तव्यों का पालन; और इस प्रकार संसार की माया-मदिरा से उन्मत्त होकर अपने आध्यात्मिक कर्त्तव्य को, जिसका पालन करने के लिए संसार के रचयिता ने उन्हें भेजा था, टालते रहते हैं अर्थात् उसके प्रति प्रमादी बने रहते हैं। (तेली का बैल अपने सम्मुख रखी खल्ली तक कभी नहीं पहुँच पाता; वह केवल चक्कर काट- काट कर कोल्हू को ही खींचता रहता है।) इसी प्रकार ऐसे 'आरूढ़-च्युत' व्यक्ति, वास्तव में द्रष्टा आत्मा को भूल कर मधुर-प्रतीयमान् दृश्य-जगत् की 'मृग-मरीचिका' के पीछे दौड़ते रहते हैं और इस तरह स्वयं ही अपना लोक-परलोक बिगाड़ लेते हैं।

सृष्टि-रचयिता की तुलना में सृष्टि को अधिक चाहना और पुनीत कार्यों को, विशेषरूप से भगवान के ध्यान-चिन्तन को, अनिश्चित भविष्य पर टालते रहना एक बहुत ही दूषित प्रवृत्ति है, जिसके मूल कारण हैं वे अज्ञान और प्रमाद जो आन्तरिक उद्‌बोधन की दिव्य क्रिया का सदैव विरोध करते, उसे परिच्छिन्न बनाते तथा आवृत्त करते रहते हैं। सावधान! यह वह 'शैतान' है जो आपको मूर्ख बना रहा है और आपको परमात्मा की कृपा से वञ्चित करने (अथवा वञ्चित बनाये रखने) का प्रयत्न कर रहा है। याद रखिये—

"अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्म संग्रहः ।।"

इस अनित्य शरीर का भरोसा नहीं है। काल सदैव मुख खोले सिर पर खड़ा है—**"जगत् चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।"** कल किसने देखा है? किस को पता है कि कब अचानक मृत्यु के अज्ञात देश से बुलावा आन पहुँचे?—ऐसा बुलावा जिसके प्रति कोई इतना भी नहीं कह

सकता, "कृपया थोड़ी देर तक रुक जाइये।" मृत्यु को भूलने से मृत्यु आने से रुकती नहीं। भगवान् शंकर की उपेक्षा करने से आप उनके हाथों से बच कर भाग नहीं सकते। समय थोड़ा है और मार्ग बहुत लम्बा तथा जीवन-सन्ध्या क्षिप्र-गति से निकट आ रही है। कथित 'कल्याण-कार्य' के बहाने धन कमाने में ही, अथवा तथाकथित 'राष्ट्र-सेवा' के नाम पर अपने मिथ्या अहं की सेवा करने में ही अपने मानव-जीवन के बहुमूल्य क्षणों को व्यर्थ में नष्ट करने से क्या लाभ! निरापद् और उचित मार्ग यही है कि अपने जीवन का सुधार अभी और यहीं से आरम्भ करिये। अतीत गया बीत और भविष्य किसी ने देखा नहीं; और न ही उसे कोई देख सकता है। एकमात्र वर्तमानकाल ही सत्य है, केवल वर्तमान ही जीवंत है। क्या कोई व्यक्ति अतीत अथवा भविष्य का जीवन जी सकता है? भूत और भविष्यत् की यदि कल्पना मात्र भी करना चाहें तो वह अनिवार्य रूप से वर्तमान में ही हो सकेगी! वर्तमान ही जीवन है और वह जीवन हमारा नहीं है—हम तो केवल रखवाले (custodian) हैं उसके। वह परमात्मा की वस्तु है और परमात्मा के प्रति ही उसे समर्पित करने में ईमानदारी है।

तो क्या प्रत्येक व्यक्ति को फिर घर-गृहस्थी को छोड़-छाड़ परमात्मा के अथवा भगवत्प्राप्ति के लिए वनों में चले जाना चाहिये? वास्तव में ऐसा करना अनिवार्य नहीं है, और प्रसंग भी यह नहीं है। प्रसंग तो यह है कि साधक को अपने आपको प्राप्त-परिस्थिति में इस प्रकार व्यवस्थित (adjust) करना चाहिये कि वृद्धावस्था में भजन करने के दिवा-स्वप्न देखते रहने और ध्यान-चिंतन के पुनीत कार्य को भविष्य पर टालते रहने के बजाय वह वर्तमान का सदुपयोग करते हुए नियमित रूप से प्रतिदिन भजन-अभ्यास में बैठने के योग्य अपने आपको बनावे तथा अवश्य ही भजन में बैठे।

"परन्तु आज की पेचीदा परिस्थितियों में इस जगत् में रह कर सांसारिक कार्य करते हुए पवित्र और आध्यात्मिक जीवन को सत्य-हृदयता से अपनाना अथवा उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचना असम्भव ही है"–इस प्रकार का तर्क शंकावादी उपस्थित कर सकते हैं। परन्तु यह तो कठिनाई को असम्भव की पदवी देने की अत्युक्ति (exaggeration) ही होगी। अनुभव में ऐसा भी आता है कि अत्यन्त प्रतिकूल और कठिन परिस्थितियों तथा भरण-पोषण के अत्यल्प साधनों के होते हुए भी कुछ व्यक्ति प्रतिदिन नियमपूर्वक भजन-ध्यान में बैठते हैं और परम दिव्य आनन्द को प्राप्त करते हैं, जब कि दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके पास जीवन की पर्याप्त सुविधायें हैं तथा अध्यात्म में उन्नति करने के लिए–यदि वे ऐसा करना चाहें–पर्याप्त साधन-सामग्री रहती है, परन्तु वे भजन-अभ्यास के निमित्त कुछ भी समय नहीं देते और आध्यात्मिक दृष्टि से पूरे दिवालिया बने रहते हैं। सच्ची बात तो यह है कि प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण दिव्य आध्यात्मिक जीवन में उन्नति न कर सकने का तर्क एक दूसरा बहाना है, जो निम्न अहंकार–वह अहंकार जो परमात्मा द्वारा अधिकृत होने से सदैव जी चुराता और डरता है–प्रस्तुत करता है।

कुछ परिस्थितियाँ ऐसी अवश्य होती हैं, जो आध्यात्मिक दिव्य उद्घाटन करने के मार्ग में बाधा डालती हैं–यह बात सभी मानते हैं। परन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि रणभूमि के मैदान में सैनिक का नैतिक-साहस (morale) युद्ध-सामग्री से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है? क्या यह बात गलत है कि जहाँ सच्ची चाह होती है वहाँ राह निकल ही आती है? क्या साधक को, यह सोच कर कि परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हैं, हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाना चाहिये और परमार्थ के लिए कुछ

नहीं करना चाहिये? समस्या संक्षेप में यह है कि मनुष्य त्रिगुणों के द्वारा इतना मोहित और मन्त्र-मुग्ध हो गया है कि वह भगवान की अपेक्षा सांसारिक धन्धों को ही अधिक महत्त्व देता है और भगवत्प्राप्ति के लिए प्रयास नहीं करता। प्रथम आवश्यकता तो यह है कि व्यक्ति के हृदय में प्रभु के प्रति उत्कट प्रेम और सच्ची लगन होनी चाहिये। भगवान हमें तभी वरण करते हैं, जब हम भी उनको वरण करते हैं। वे हमारी सहायता के लिए सचमुच आगे आते हैं इस शर्त्त पर कि हमें उन पर पूरा भरोसा हो और हम एकमात्र उन्हीं की सहायता को मांगें।

परमात्मा का क्या बिगड़ता है यदि हम उसका स्मरण नहीं करते? यदि हम प्रभु से प्रार्थना अथवा उसकी स्तुति-वन्दना नहीं करते तो उसका क्या घट जाता है? यह हम ही हैं, जो उससे पराङ्मुख होने के कारण अपने आत्मोद्धार का अवसर खो बैठते हैं। वास्तव में हम ही हैं, जो परमात्मा को, जो हमारा परम सुहृद और सच्चा साथी है, उन नश्वर जड़ पदार्थों और स्वार्थपूर्ण प्राणियों के बदले में हार बैठते हैं, जो प्राणि-पदार्थ एक दिन अवश्य ही हमारा साथ छोड़ देंगे और पराये बन जायेंगे।

प्रिय मित्र! मानव-शरीर अनित्य होने पर भी आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से एक बहुमूल्य वस्तु है। इसका तिरस्कार करना अथवा इसको अनित्य सुख-भोगों की प्राप्ति का साधन मानना बड़ी भारी भूल है। यह देह देवगणों को भी दुर्लभ है—

“बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थन्हि गावा ।।
कबहुँक करि करुणा नरदेही। देत ईश बिन हेत सनेही ।।”

(रामचरितमानस)

अतएव इस दुर्लभ मानव-तन को व्यर्थ की ही बातों और भोगों में नष्ट मत कीजिये। यह एक अपूर्व अवसर मिला है, इसको हाथ से न निकलने दीजिये। काल के वश में पड़े संसाररूपी वनवास से अपने सच्चे घर, जो कि शाश्वत प्रभु हैं, की ओर जाने का प्रयास कीजिये।

विवेकशील और सावधान बनिये! भजनमय जीवन व्यतीत करिये—अभी और यहीं से! सतत् भगवन्नाम स्मरण का अभ्यास करिये और अमृत का पान कीजिये। स्वरूपभूत प्रत्यक् आत्मा का चिन्तन करके मुक्त हो जाइये। वह क्या है जो आपको, भगवान के दिव्य बालक को, अपने परम पिता परमेश्वर से पृथक् रख सकता है? वह कौन सी ताकत है, जो आपकी आत्मा को परमात्मा से पराङ्मुख कर सकती है? समस्त निर्बलता को अब छुट्टी दे दीजिये। जगत् की विडम्बना के साथ सहकार-सहयोग देने से क्या लाभ? अपने 'अन्दर वाले' की सत्य की आवाज का अनुसरण क्यों न करें? भगवान की प्राप्ति के पुनीत साधना-अभ्यास को दूरस्थ भविष्य पर टालने से क्या प्रयोजन जबकि नित्य वर्तमान भगवान सदैव आपके पास हैं और जब कि आपके उद्धार की सम्भावना एवं आवश्यकता वर्तमान में ही है !

काल की विडम्बना (vanity) से छुटकारा पाने के लिए समस्त प्रकृति (nature) सतत् प्रयत्नशील है, और क्या आप सोये ही रहेंगे? जागिये और परमात्मा को समस्त विश्व में तथा अपनी अन्तरात्मा में उपलब्ध करने के लिए उत्तरोत्तर बढ़ते चलिये, और रुकिये मत जब तक कि परमार्थ परमात्मा की प्राप्ति न हो जावे।

उत्तिष्ठध्वं जागृध्वं अग्निमिच्छध्वं भारत ।

ॐ! ॐ!! ॐ!!!

श्रीचन्द्रस्वामीजी का आध्यात्मिक साहित्य

- The Practical Approach to Divinity
  - अनुवाद
    - हिन्दी (भगवत्-प्राप्ति)
    - गुजराती (प्रकाशनाधीन)
    - पंजाबी (प्रकाशनाधीन)
    - फ्रेंच {"L' Art de la Realisation" (Albin Michel), France}
    - जर्मन {"Expendition Erwachen" (Argos Verlag), Germany}
    - हिब्रू (इज़राइल में उपलब्ध)
    - अरबी (बेरूत, लेबनान में उपलब्ध)
- दिव्य-स्फुरण
  - अनुवाद
    - अंग्रेजी (Spiritual Gems)
    - फ्रेंच (Le Rosaire des Instructions Spontanees)
- आनंद दर्पण (बाबा भूमनशाहजी का संक्षिप्त जीवन एवं उपदेश)
  - अनुवाद
    - अंग्रेजी (Mirror of Bliss)
    - फ्रेंच (En Compagnie de Babaji)
- अमृतवाणी (स्वामीजी के पत्रों का संकलन)
- Les Entretiens De La Bergerie (Homo Ludens, France)
  सन् 1987 में स्वामीजी के यूरोप प्रवास की अवधि में हुए प्रश्नोत्तरों का अंग्रेजी तथा फ्रेंच में द्विभाषा संकलन
- Song of Silence – I (Life sketch of Swamiji & questions-answers)
  फ्रेंच अनुवाद (Le Chant Du Silence I)
- Song of Silence – II (questions & answers)
  फ्रेंच अनुवाद (Le Chant Du Silence II) Under Publication
- चन्द्र-प्रभास (परमसंत श्रीचन्द्रस्वामीजी उदासीन का जीवन-चरित्र एवं उपदेश)

भारतीय संस्करण निम्न पते पर उपलब्ध

साधना केन्द्र आश्रम

ग्राम – डुमेट, पोस्ट – अशोक आश्रम, विकासनगर

जिला – देहरादून, उत्तरांचल, पिन – 248125

फोन – 01360-222204



काल की विडम्बना से छुटकारा पाने के लिए
समस्त प्रकृति सतत प्रयत्नशील है,
और क्या आप सोये ही रहेंगे?
जागिये और परमात्मा को समस्त विश्व में तथा अपनी
अन्तरात्मा में उपलब्ध करने के लिए उत्तरोत्तर बढ़ते
चलिये, और रुकिये मत
जब तक कि परमार्थ परमात्मा की प्राप्ति न हो जावे।

